

सुखी जीवन का मूलाधार अहिंसक जीवन शैली

डॉ. चंचलमल चोरडिया

मानव जीवन का उद्देश्य क्या?

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? खाना-पीना, मौज-शौक करना, सो जाना और दूसरे दिन प्रातः उठकर पुनः उन्हीं कार्यों में लग जाना। यह सभी कार्य तो पशु भी करते हैं। ऐसे जीवन जीने वाले मनुष्य और पशु में क्या अन्तर? मानव में चेतना का सर्वाधिक विकास होने के कारण एक विशेषता होती है कि वह जानता भी है और समझता भी है कि वह क्या कर रहा है? क्यों कर रहा है? क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? मानव में ही चिन्तन, मनन की अपूर्व क्षमता, बुद्धि तथा विवेक होता है। जिससे भूतकाल की भूलों का सुधार और भविष्य के सुखद जीवन की कल्पना एवं सम्यक् पुरुषार्थ कर सकता है। अतः मानव से ही अपनी क्षमताओं के अनुरूप सही उद्देश्य एवं लक्ष्य के प्रति आगे बढ़ने की अपेक्षा रखी जा सकती है।

हीरे की पहचान करने वाला जौहरी होता है और पत्थर समझ दुरुपयोग करने वाला मूर्ख। हम स्वयं ईमानदारी पूर्वक निर्णय करें, हम अमूल्य मानव जीवन का उपयोग कैसे कर रहे हैं? किसी भी जीव के प्राण अमूल्य होते हैं। पशु भले ही बेजुबान हो, बेजान नहीं होते। अतः जो प्राण हम दे नहीं सकते, उनको लेने का हमें कोई अधिकार नहीं है। सुख, शांति, प्रसन्नता एवं आनन्द चाहने वालों को अहिंसक जीवन शैली अपनाना मानवता एवं स्वास्थ्य की प्राथमिक आवश्यकता है।

प्रकाशक

कल्याणमल चंचलमल चोरडिया ट्रस्ट, जोधपुर

चोरडिया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर-342003 (राज.)

फोन: 0291-2621454 (R), फैक्स: 2435471, मोबाइल: 94141-34606

E-mail: cmchordia.jodhpur@gmail.com, Website: www.chordiahealth.com

सहयोग राशि 15/-

आत्मा का महत्व

आत्मा को समझे बिना उसका मूल्य और महत्त्व कैसे पता लग सकता है? जीवन में उसकी उपेक्षा होना सम्भव है। आत्मा के विकार, मन, बुद्धि और वाणी को कैसे प्रभावित करते हैं? हमारे स्वास्थ्य को क्यों और कैसे बिगाड़ते हैं? आसानी से समझ में नहीं आ सकते। रोग के कारण बने रहने से पूर्ण स्वास्थ्य की भावना मात्र कल्पना बन कर रह जाती है। जिस प्रकार जड़ को सींचे बिना, मात्र फूल पत्ते को पानी पिलाने से वृक्ष सुरक्षित नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध, पवित्र, विकार-मुक्त किए बिना शरीर, मन और मस्तिष्क स्वस्थ नहीं रह सकते। रोग की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा में कर्मों का विकार ही होते हैं। संचित कर्मों के अनुरूप व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि, परिवार, समाज, क्षेत्र, पद, प्रतिष्ठा और भौतिक साधनों की उपलब्धि होती है। रोग की अभिव्यक्ति भी पहले भावों अथवा विचारों में एवं सुख-दुःख का संयोग अथवा वियोग प्राप्त होता है। तत्पश्चात् मन में, उसके बाद शरीर के अन्दर एवं अन्त में बाह्य लक्षणों के रूप में प्रकट होती है। व्यक्ति के हाथ में तो मात्र सम्यक् पुरुषार्थ करना ही होता है। परन्तु सभी पुरुषार्थ करने वालों को एक जैसा परिणाम क्यों नहीं मिलता? उसके पीछे पूर्व संचित कर्मों का ही प्रभाव होता है।

आरोग्य एवं रोग शास्त्र में अन्तर

आरोग्य शास्त्र में तन, मन और चित्त तीनों का एक साथ उपचार होता है, अर्थात् समग्रता से विचार किया जा सकता है। शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति कम न हो, कर्म बन्धनों से आत्मा विकारी न बने, इस बात को प्राथमिकता दी जाती है जबकि रोग शास्त्र में रोग के मूल कारणों की अपेक्षा, उससे पड़ने वाले प्रभावों को शांत करने का प्रयास किया जाता है, जिससे रोगी को तुरन्त राहत कैसे मिले, मुख्य ध्येय होता है, भले ही उसके दुष्प्रभाव होते हों। आरोग्य शास्त्र पर आधारित है-“स्वावलम्बी अहिंसक उपचार” और रोग शास्त्र पर आधारित होती है-“अहिंसा की उपेक्षा करने वाली परावलम्बी चिकित्सा पद्धतियाँ।”

मानव जीवन अमूल्य

मानव जीवन अमूल्य है। वस्तु जितनी मूल्यवान होती है, उसका उपयोग एवं उसकी सुरक्षा उसके अनुरूप करने वाला ही सच्चा ज्ञानी होता है। हमें चिन्तन करना होगा कि मानव जीवन के रूप में प्राप्त हम अपनी ऐसी अमूल्य क्षमताओं का अप्राथमिक, अनावश्यक कार्यों में दुरुपयोग और अपव्यय तो नहीं कर रहे हैं? जब तक अपनी क्षमताओं का सही उपयोग नहीं होगा, दुःख और रोग के कारणों को नहीं समझा जायेगा, तब तक हमारा जीवन अमर्यादित, अनियन्त्रित, लक्ष्य-हीन, स्वच्छन्द, असंयमित होने से स्थायी स्वास्थ्य एवं समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता।

क्या अहिंसक जीवन जीना संभव है?

हिंसा हेतु वर्तमान परिस्थितियों को दोष देना उचित नहीं :-

जीवन जीना भी एक कला है। मानव जीवन का परम लक्ष्य क्या? उसको कैसे प्राप्त किया जावे? जीवन की प्राथमिकताएँ क्या हों? क्या वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसा का पालन संभव है? जहाँ जीवन है वहाँ हिंसा अनिवार्य है। अल्पतम अतिआवश्यक लाचारी से होने वाली हिंसा के अलावा अनावश्यक हिंसा से हम कैसे बचें, यही चिन्तन का विषय है? जीओं और जीने दो पर आधारित जीवन ही मानवता का प्रतीक है। अपने स्वार्थ के लिये अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाना पाशिवकता का लक्षण है। शराब की बोतल देखने अथवा पास में होने मात्र से नशा नहीं आता। नशा तो शराब के घूट लेने से ही आता है। अतः हिंसा के लिये वर्तमान परिस्थितियों को दोष देना उचित नहीं। अहिंसक जीवन जीने के लिये किसी भी काल में परिस्थितियाँ शत-प्रतिशत अनुकूल नहीं रही। अहिंसक जीवन जीने के लिये हमें हमारी प्रवृत्तियों को संयमित, नियमित, नियन्त्रित रखना होगा। मन, वचन, काया के अशुभ योगों से बचना होगा। जीव अजीव के भेद को जानकर जीवन में अहिंसा के महत्त्व को समझना होगा। जब उसका महत्त्व समझ में आ जायेगा तब हमारी सारी प्राथमिकताएँ अहिंसा-पालन के लिये हो जायेगी। कष्ट की अनुभूति नहीं होगी तथा हिंसक प्रवृत्तियों के प्रति हम सजग, सतर्क, सचेत, सावधान होकर बिना किसी को दोष दिये बचने लग जायेंगे।

क्षमताओं का अधिकतम सदुपयोग मानव जीवन में आवश्यक :-

जन्म के साथ मृत्यु निश्चित है। इस जन्म-मरण के परिभ्रमण का कारण आत्मा पर आये कर्मों का आवरण होता है। मानव योनि ही एकमात्र ऐसी योनि है जिसमें इतनी क्षमता है कि आत्मा पर आये समस्त कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। यही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जो इस लक्ष्य प्राप्ति में जितना-जितना आगे बढ़ता है, उसी का जीवन सार्थक होता है। इसके विपरीत जो अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग अथवा अपव्यय करता है, उसका जीवन व्यर्थ होता है, अधोगति की तरफ ले जाने वाला होता है। विवेक बुद्धि की अल्पता और अज्ञान ही संसार परिभ्रमण के दो मुख्य कारण हैं, जिसके कारण मानव अपनी क्षमताओं को नहीं पहिचान पाता। क्या कोई व्यक्ति लाखों रूपयों के बदले अपने शरीर का कोई अंग, जैसे- आँख, कान, जीभ, नाक आदि बेचना चाहता है? कदापि नहीं। प्रश्न खड़ा होता है कि ऐसे अमूल्य मानव जीवन का ध्येय कहीं हम खाने-पीने, मौज-शौक अथवा परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति जिम्मेदारी तक ही सीमित समझने की भूल तो नहीं कर रहे हैं? जो वस्तु जितनी मूल्यवान होती है, उसका उपयोग कैसे करना? भौतिक जगत में हम जानते हैं। लाखों रूपये का वेतन लेने वाले मैनेजर से झाड़ू नहीं निकलवाते। महिलाओं में इतना विवेक होता है कि कीमती साड़ी पहिनकर, घर की सफाई अथवा भोजन नहीं बनाती। परन्तु क्या कभी हमने अपने जीवन के तौर-तरीके को देखा? क्या हम हमारे मन और इन्द्रियों का सदुपयोग कर रहे हैं? कहीं मुँह से अपशब्द तो नहीं बोलते? निन्दा, चुगली, आरोप, प्रत्यारोप, असत्य तो नहीं बोलते? आँखों से काम-विकार बढ़ाने वाले विषयों को तो नहीं देखते। कान से निन्दा, विकथा अथवा राग-द्वेष बढ़ाने वाले शब्द तो नहीं सुनते? यदि ऐसा करते हैं तो अपनी क्षमताओं का अवमूल्यन करना है। जिस वस्तु का दुरुपयोग अथवा अपव्यय किया जाता है, भविष्य में वह वस्तु पुनः सरलता से प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए आपने अपने नासमझ प्रिय बच्चे को जिद्द करने पर एक हजार रूपये का नोट दिया और यदि वह बच्चा उसे फाड़ देता है तो पुनः उस बच्चे को हजार रूपये का नोट आप नहीं

देते, भले ही बच्चा कितना ही प्रिय क्यों न हो। ठीक उसी प्रकार मनुष्य जीवन का दुरुपयोग करने वाले को पुनः मानव जन्म नहीं मिलता। सम्यक् आचरण से ही मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जो उसकी प्राप्ति हेतु सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं उन्हीं का मानव जीवन प्राप्त करना अथवा जीना सफल होता है। क्या अहिंसक व्यक्ति ऐसा जीवन जी सकता है? चिन्तन का विषय है।

अहिंसा के पालन हेतु जीव एवं अजीव का ज्ञान आवश्यक :-

अहिंसा का आधार हैं जीव या आत्मा अथवा चेतना। जब तक जीव और अजीव का ज्ञान नहीं होगा तब तक हिंसा से बचना कठिन होगा। जो हलन-चलन वाले जीव हमें दिखाई देते हैं, प्रायः हम उन्हीं को जीव मानते हैं। बहुत से ऐसे जीव इतने सूक्ष्म होते हैं जिन्हें हम अपने चर्म चक्षुओं से नहीं देख पाते। आज वैज्ञानिकों द्वारा भी वनस्पति में चेतना को स्वीकार किया जा चुका है। केप्टन स्कोर्सवी ने पानी की एक बूंद में सूक्ष्म दर्शक यंत्र से 36450 चलते फिरते जीवों को देखा। जिसका विवरण सिद्ध पदार्थ नामक ग्रन्थ (जो इलाहाबाद प्रेस से प्रकाशित हुआ है) में मिलता है, जो पानी में जीव की सत्यता को स्पष्ट करता है। अग्नि की सजीवता तो स्वयम् सिद्ध है। उसमें प्रकाश और उष्णता का गुण है, जो सचेतन में होते हैं। अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। लकड़ी, कोयला, पेट्रोल, डीजल, ईंधन आदि आहार लेकर बढ़ती है। आहार के अभाव में अग्नि घटती है। ये सब उसकी सजीवता के लक्षण हैं। परन्तु प्रायः हम अग्नि, पानी, वनस्पति, पृथ्वी, हवा आदि एकेन्द्रिय जीवों में प्राण नहीं मानते। केवलज्ञानी, सर्वज्ञ अथवा त्रिकालदृष्टा ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर जीवों को देख सकते हैं। अतः उन्होंने जो अपने से पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और वनस्पति जैसे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों की विस्तृत जानकारी दी, उस पर श्रद्धा रख यथासंभव किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।

व्यक्त चेतना ही जीव का आधार नहीं :-

जिस प्रकार मूर्च्छित व्यक्ति की बाह्य चेतना सुसुप्त होती है, परन्तु अन्तरंग चेतना, अनुभूति सुसुप्त नहीं होती। कोई मनुष्य जन्म से अन्धा, मूक, बधिर और हाथ पैरों से विकलांग है। यदि कोई व्यक्ति उसको कष्ट दे, तो भी वह उस पीड़ा को अभिव्यक्त नहीं कर सकता और न दुःखी होकर भाग सकता है अथवा अन्य प्रतिक्रिया ही कर सकता है। तब क्या ऐसा मान लिया जाए कि उसमें जीव नहीं है। जैसे वह व्यक्ति वाणी, चक्षु और गति के अभाव में पीड़ा का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में, व्यक्त चेतना का अभाव होने के बावजूद भी प्राणों का स्पन्दन होता है। संवेदना अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसी कारण जैन संत मुनिराज सचित एकेन्द्रिय का स्पर्श तक नहीं करते। उनमें भी अनुभव चेतना विद्यमान होती है। अतः कष्ट की अनुभूति होती है। एकेन्द्रिय जीवों की चेतना मूर्च्छित रहती है, परन्तु वे अन्तरंग चेतना से शून्य नहीं होते। वैदिक परम्परा में पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि और वनस्पति में देवत्व का वास माना गया है। भवन निर्माण अथवा प्रवेश के समय भूमि-पूजन, विवाह, शादी के प्रसंगों पर अग्नि की साक्षी और उगते सूर्य को नमस्कार, हथैली में पानी की साक्षी से संकल्प लेने की परम्परा तथा पीपल, तुलसी, नीम आदि के पूजन के पीछे यही लक्ष्य रहा हुआ है। चीनी पंच तत्व के सिद्धान्त एवम् प्राकृतिक चिकित्सा में पंच तत्वों का नामकरण उसी के आधार पर किया गया है। परन्तु पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और वनस्पति में चेतना का ज्ञान न होने से अहिंसक कहलाने वाले भी, इनका दुरुपयोग करते तनिक भी संकोच नहीं करते। फलतः सारा संसार आज पर्यावरण एवं प्रदुषण की समस्या से परेशान है।

आत्मविकास में बाधक हिंसा:-

जिस प्रकार अहिंसक व्यक्ति में बचपन से ही करुणा, दया के संस्कार होने से कोई कितना ही प्रलोभन दें, उसकी आत्मा एक चींटी को मारने की भी अनुमति नहीं देती। फिर भी न चाहते हुए भी उठते-बैठते, चलते-फिरते, हिंसा हो ही जाती है। उसी प्रकार जब जीव और अजीव का भेद समझ में आ जायेगा तब प्रज्ञावान, विवेकशील व्यक्ति अनावश्यक हिंसा से यथासंभव बचने का प्रयास करेगा। जहाँ जीवन है, वहाँ हिंसा अनिवार्य हैं। अतः आजकल ऐसी मान्यता बलवती होती जा रही है कि बिना हिंसा जीवन चल ही नहीं सकता। इस शंका का समाधान करते हुए प्रभु महावीर ने कहा-

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयंमासे, जयं सए ।

जयं भुजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

अर्थात् यतनापूर्वक चलने, उठने, बैठने एवं सोने अथवा जीवन के लिये अन्य अतिआवश्यक प्रवृत्तियाँ करने से पाप कर्मों का बन्ध नहीं होता अर्थात् हिंसा का दोष नहीं लगता। अतः जीवन की सभी प्रवृत्तियाँ विवेकपूर्ण हो, ताकि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, जाने-अनजाने, किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाने की मन में भावना न हो।

हिंसा की अनुमोदना से बचें :-

हिंसक प्रवृत्तियों से यथासंभव बचने का ध्यान रखा जावे। हिंसा का भाव आते समय हमारे अन्दर लेश्याओं (भावों) की क्या स्थिति होती है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। जैन आगमों में इस संदर्भ में तंदुल मच्छ का एक दृष्टान्त आता है, जो समुद्र में भीमकाय मगरमच्छ की आंखों के भौँहे पर बैठा चावल के दाने जितना छोटा मगरमच्छ होता है। जब वह देखता है कि मगरमच्छ की श्वास के साथ सैंकड़ों मच्छलियाँ उसके पेट में जा रही हैं और श्वास छोड़ने के साथ वापस बाहर आ रही हैं। तंदुल मच्छ विचार करता है कि यह कैसा आलसी मगरमच्छ हैं, जो मुँह में आये शिकार को भी पुनः गवां देता है। इसकी जगह अगर मैं होता तो एक मछली को जीवित बाहर नहीं आने देता। उसकी ऐसी भावना मात्र ही उसे अधोगति का पथिक बना देती हैं। हालांकि प्रत्यक्ष रूप से हिंसा में वह तनिक भी भागीदार नहीं होता। आजकल हम बिना प्रयोजन ऐसी पाप प्रवृत्तियों की प्रेरणा देते हैं अथवा अनुमोदना करते हैं, जिससे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उनसे होने वाली हिंसा में भागीदार बनते हैं। लोक लाज और व्यवहार निभाने के नाम पर किसी आलीशान मकान की बिना पूछे तारीफ करना, विवाह-शादियों के उपलक्ष्य में आयोजित भोजों एवम् कार्यक्रमों की बिना पूछे सराहना करना, शादी के प्रसंगों पर प्रत्येक परिचित को शुभ संदेश भिजवाना, जैसी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिसके पीछे अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। जिन पर यदि हम प्रतिक्रिया न करें, अनासक्त रहें तो भी चल सकता है। हम परोक्ष हिंसा की अनुमोदना से सहज बच सकते हैं।

जीवन में हिंसा के विविध रूप:-

हिंसा को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहली द्रव्य हिंसा- जिसका मतलब किसी जीव को कष्ट पहुँचाना। जबकि दूसरी भाव हिंसा अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुँचाने की भावना होना, भले ही प्रत्यक्ष रूप से द्रव्य हिंसा न भी हो। भाव हिंसा का सम्बन्ध व्यक्ति के स्वयं के नियन्त्रण में होता है। अतः आसानी से बचा जा सकता है। हिंसा तीन करण और तीन योग से होती है। अर्थात् स्वयं करना, दूसरों से करवाना अथवा हिंसक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना। तीन योग हैं-मन, वचन और काया। इस प्रकार कुल 49 प्रकार से द्रव्य एवं भाव हिंसा की जा सकती है। जैसे हिंसा मन से करना, वचन से करना, काया से इत्यादि। अतः अहिंसक जीवन जीने वालों को यथासंभव हिंसा से बचना चाहिये। हिंसा का सम्बन्ध चेतना के विकास से भी होता है। जितनी ज्यादा

चेतना का विकास होगा, उनकी हिंसा करते समय भावों में उतनी ही क्रूरता अधिक होगी। उसकी प्रतिक्रिया का सहज अनुभव भी किया जा सकता है। इसलिये जितना कर्मों का बन्ध पंचेन्द्रिय की हिंसा से होता है, उतना एकेन्द्रिय की हिंसा से नहीं होता।

खानपान में बढ़ती हिंसा :-

आज हमारे ऊपर चारों तरफ से आक्रमण हो रहा है। जन-साधारण का हिंसा के दोषों के प्रति अज्ञान होने से खानपान में माँसाहार, अण्डों, मछलियों का प्रत्यक्ष उपयोग दिनों-दिन बढ़ रहा है। नमक में मिलाया जाने वाला अधिकांश आयोडीन बूचड़खानों से प्राप्त जानवरों के थायरॉइड ग्रन्थि का स्राव होता है, जिसको स्वार्थी तत्त्वों के प्रभाव से सरकार ने नमक में मिलाना अनिवार्य बना दिया है। बाजार में मिलने वाले तैयार खाद्यान्नों को शक्तिवर्धक बनाने के नाम पर मछली को सुखाकर उसका बना पाउडर आटे में बेहिचक मिलाया जा रहा है। ब्रेड, बिस्किट, आईसक्रीम आदि को स्वादिष्ट बनाने के लिये अण्डों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। घी, तेल में जानवरों की चर्बी मिलाना आम बात होती जा रही है। चाँदी के बरक बनाने के पीछे भी अप्रत्यक्ष हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा है। मिलावट और अनैतिकता के इस युग में मानव की स्वार्थी मनोवृत्ति एवं अज्ञान से करणीय-अकरणीय का विवेक समाप्त होता जा रहा है। हम जो खा रहे हैं अथवा जो खिलाया जा रहा है, वे पदार्थ कैसे बनते हैं? उनमें मिलाये जाने वाले अवयव कितने शुद्ध हैं? उस तरफ छानबीन की प्रवृत्ति न होने, भ्रामक विज्ञापन के प्रभाव तथा घर पर अच्छे पवित्र खाद्यान्न बनाने के आलस्य ने घर से बाहर खाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। होटलों का उद्देश्य भोजन की सात्विकता पर कम, स्वाद पर ज्यादा हो गया है। हिंसा द्वारा निर्मित बनी-बनाई चीजों को खाते अथवा खरीदते समय गवेषणा की प्रवृत्ति न होने से बूचड़खानों के उत्पादकों की आवश्यकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। नित्य नये-नये बूचड़खाने क्यों खुल रहे हैं? स्वास्थ्य विभाग खाने की सात्विकता के गुणों की तरफ पूर्ण उपेक्षित है। उल्टा पूर्वाग्रह के कारण पौष्टिकता के झूठे दावों के नाम पर ऐसे खाद्यान्नों को प्रोत्साहन देने के कार्य में, आग में घी डालने का कार्य कर रहा है। अतः अहिंसक जीवन जीने वालों को बाजार से जीवनोपयोगी वस्तुएँ खरीदते समय जांच करनी चाहिए कि कहीं उसमें जानवरों के अवयवों की मिलावट तो नहीं है। दूसरी बात बाहर से बनी खाद्य वस्तुओं को खाने की प्रवृत्ति एवं होटलों में खाने की प्रवृत्ति यथासंभव छोड़नी चाहिये, ताकि अज्ञानवश न चाहते हुए भी हम हिंसक प्रवृत्तियों में भागीदार न बन जावें। तीसरी बात रात्रि में भोजन बनाते अथवा खाते समय बहुत ध्यान रखते हुए भी जीव उसमें मिल जाते हैं, जिससे भोजन अभक्ष्य बन जाता है। अतः अहिंसक व्यक्ति को रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये।

व्यवसाय और हिंसा :-

हिंसा का दूसरा बड़ा क्षेत्र है व्यवसाय। हम अपनी आय उपार्जन के लिये ऐसे व्यवसायों से बचें जो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की हिंसा पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आधारित हों। शास्त्रों में श्रावकों को ऐसे व्यापार का पूर्ण निषेध करने का परामर्श दिया गया है। ऐसे 15 प्रकार के व्यवसायों की कर्मादान के रूप में विस्तृत व्याख्या की गई है। जैसे बूचड़खानों का संचालन, एवं सौन्दर्य प्रसाधन बनाने वाले हिंसा पर आधारित दवा, उद्योग और व्यापार, विष का व्यापार, जंगल कटवाना, मछली उत्पादन, पॉल्ट्रीफार्म, हाथी दाँत का धन्धा, रेशम, कस्तूरी, जीवित जानवरों को मारकर प्राप्त चमड़े पर आधारित चर्म उद्योग, चाँदी के वर्क बनाना अथवा ऐसे अन्य उद्योग अथवा व्यापार जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिंसा को प्रोत्साहन देते हों।

आजकल अधिकांश कम्पनियाँ अपने व्यापार के लिये धन प्राप्त करने के लिए शेयर बेचती हैं। शेयर खरीदते समय इस बात की गवेषणा करनी चाहिये कि हमारा धन ऐसी कम्पनियों में इन्वेस्ट (Invest) न हो, जिसके उत्पादन में जीवों पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष क्रूरता अथवा अत्याचार होते हों एवं जिस कम्पनी के उत्पादों के परीक्षणों हेतु जीवों पर निर्दयता, क्रूरता की जाती हो। प्रायः अधिकांश सौन्दर्य प्रसाधन के सामान, अंग्रेजी दवाईयाँ, चमड़े पर आधारित जूतों, बेल्ट, फर के कोट अथवा टोपियाँ बनाने वाले, अथवा इसी प्रकार की अन्य कम्पनियों के शेयर खरीदने का मतलब, ऐसे उद्योगों में अपनी भागीदारी रखना। आज इस तथ्य की तरफ अहिंसक समाज पूर्ण उपेक्षित है और उनका Investment ऐसी कम्पनियों के शेयर खरीदने में होने से हिंसा पर आधारित धन्धे तीव्र गति से बढ़ रहे हैं।

शिक्षा और चिकित्सा में हिंसा :-

आजकल जीव विज्ञान की शिक्षा के नाम पर विद्यालयों और कॉलेजों में जीवों का विच्छेदन बेहिचक किया जा रहा है। कम्प्यूटर, वी.सी.आर., चार्ट, मॉडल एवम् अन्य वैकल्पिक साधनों के होते हुए इस युग में विद्यालयों में विच्छेदन अनावश्यक एवम् अमानवीय कृत्य है। कम से कम अहिंसक समाज को अपने विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में तो ऐसे परीक्षणों पर अवश्य प्रतिबंध लगाना चाहिए। जो प्राण हम दे नहीं सकते, उसको लेने का हमें कोई अधिकार नहीं। जिनको मारेंगे उनके हाथों मारे जायेंगे, यह प्रकृति का अटल नियम है। दूसरी तरफ आज अनेकों दवाईयों में जानवरों का उपयोग होता है तथा किसी भी दवा को कारखानों में उत्पादन करने के पश्चात् बेचने से पूर्व उसका परीक्षण जानवरों पर करना कानूनी रूप से अनिवार्य होता है। दवाइयों के परीक्षण के नाम पर जो क्रूरता, हिंसा, निर्दयता की जाती है वह मानव के स्वार्थ की पराकाष्ठा है। आज के इस दूषित वातावरण में भी जीव जन्तु बिना दवा प्रकृति से सहज रूप से कैसे ठीक होते हैं ?

क्या मानव-सेवा हेतु हिंसा को प्रोत्साहन उचित है ?

अहिंसा में विश्वास रखने वाला अहिंसक व्यक्ति हजारों रुपयों का प्रलोभन देने के बावजूद जानबूझ कर एक चिंटी को भी नहीं मार सकता। जिन पदार्थों में जानवरों के अवयव होते हैं उनको खाने अथवा उपयोग में लेने से यथासंभव परहेज करता है। उसके घर कोई अतिथि आए तो उसको सात्विक भोजन कराना अपना कर्तव्य समझता है। यदि अतिथि मांसाहार हेतु आग्रह करें तो, स्पष्ट मना कर देता है। मानव सेवा के नाम पर मांसाहार द्वारा अतिथि का स्वागत उसको स्वीकार नहीं। जैन संत एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सूक्ष्म से सूक्ष्मतम जीवों तक की हिंसा से पूर्णरूपेण बचने हेतु कठिनतम परीषह सहन करते हैं। अहिंसा का यथा संभव पूर्ण रूपेण पालन उनके जीवन में श्वास के समान मुख्य होता है। सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान, प्रार्थना, जप, तप आदि शुभ प्रवृत्तियाँ भोजन एवं पानी के समाज अन्य प्रमुख प्राथमिकताओं के समान हो सकती है।

एक्युप्रेशर, सुजोक, शिवाम्बु, चुम्बक, योग, स्वर, सूर्य किरण एवं रंग, ऊर्जा संतुलन, नाभि, भोजन, जल, प्राणायाम, मुद्राएँ, मेथी, तेल, हास्य, रेकी, दूरस्थ, प्राणीक, डाउजिंग जैसे अनेक पूर्णतः प्रभावशाली एवं दुष्प्रभावों से रहित अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों की अपने अज्ञानवश उपेक्षा कर हिंसा पर आधारित चिकित्सा पद्धतियों को प्राथमिकता देना अहिंसक आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए कितना उचित है ? चिंतन का प्रश्न है। आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की जानकारी हेतु करोड़ों जानवरों का प्रतिदिन विच्छेदन किया जाता है। दवाईयों के निर्माण और उनके परीक्षण हेतु जीव-जन्तुओं को निर्दयता, क्रूरतापूर्वक यातना दी जाती है। किसी को दुःख देकर

सुख और शांति कैसे मिल सकती है? यह तो पशुता एवं अनैतिकता का लक्षण है। जैसा करेंगे वैसा फल मिलेगा, यह कर्म का सनातन सिद्धान्त है। प्रकृति के न्याय में देर हो सकती है परन्तु अन्धेर नहीं।

परन्तु आज अहिंसा प्रेमियों द्वारा भी चिकित्सा में अहिंसा न केवल उपेक्षित एवं गौण होती जा रही है, अपितु ऐसी हिंसा को आवश्यक बतलाने का प्रयास भी किया जा रहा है। ऐसा प्रयास भोजन एवं पानी को श्वास से अधिक महत्त्व देने के समान तर्क संगत नहीं लगता। हिंसा पर आधारित मेडिकल कॉलेज एवं अस्पतालों का संचालन तथा चिकित्सा शिविरों का आयोजन, क्या ऐसा प्रयास परोक्ष रूप से बूचड़खानों का सहयोग करना एवं पशु क्रूरता को प्रोत्साहन देना नहीं है? अतः उपचार हेतु प्रत्यक्ष या परोक्ष हिंसा करना/करवाना अथवा हिंसा करवाने वालों को प्रोत्साहन देना, आत्मा को विकारी बना शरीर को स्वस्थ रखने के जैसा, कर्जा चुकाने के लिये ऊँचें ब्याज पर कर्जा लेने के समान नासमझी है।

अहिंसक जीवन जीने वालों का दायित्व :-

अहिंसक आचरण करने वाला ऐसी हिंसक दवाओं का उपयोग कैसे कर सकता है? रोग का संबंध वेदनीय कर्म से होता है और मृत्यु का कारण आयुष्य कर्म का क्षय होना, परन्तु मृत्यु का कारण एकमात्र रोग को मानने की भ्रामक धारणा के कारण, स्वस्थ होने के लिये ऐसी हिंसक दवाओं के सेवन की प्रवृत्ति, सूक्ष्म रूप से अहिंसा का पालन करने वाले, संयमी संत-सतियों में भी तीव्र गति से बढ़ रही है। दवा में क्या अवयव हैं, उसके निर्माण और परीक्षण में होने वाली हिंसा की जांच तक नहीं करते? 42 दोष टाल आहार लेने वाले भी बिना दवा उपचार की प्रभावशाली विभिन्न अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों को छोड़, परावलम्बी, पंचेन्द्रियों की हिंसा पर आधारित चिकित्सा पद्धतियों की तरफ आकर्षित हो रहे हैं जो गहन चिंता का विषय हैं।

हिंसक प्रवृत्तियों के प्रति मौन कितना उचित?

हिंसा आमोद-प्रमोद के नाम पर भी होती है, जैसे- शिकार खेलना, जानवरों को लड़ाना, मारना अथवा कष्ट पहुँचाने में सहयोग देना, उनकी पूँछ पर पटाखें फोड़ना, चिड़ियाघर अथवा सर्कस के लिये उनको बन्धक बनाना आदि के रूप में हो, या धार्मिक अन्धविश्वास के कारण देवी-देवताओं पर बलि के रूप में हो अथवा बकरा ईद जैसे प्रसंगों पर कुबानी के रूप में ही हो, जहरीलें साँप, बिच्छू आदि जीवों को भय के कारण बिना अपराध मारना, टिड्डी, कीट, पंतगों, चूहों को हानि के भय से मारना, अहिंसक आचरण करने वालों के लिये कदापि उचित नहीं। खान-पान, चिकित्सा, व्यवसाय, सौन्दर्य-प्रसाधन, शिक्षा, मनोरंजन अथवा अन्य किसी भी कारण से हिंसा हो, हमें यथासंभव प्रत्यक्ष-परोक्ष, अनावश्यक हिंसा से स्वयं को बचाना चाहिए। अहिंसक के मन में जीवों को न केवल, कष्ट पहुँचाने अथवा मारने के भाव ही चाहिये, अपितु उनके प्रति करुणा, मैत्री का भाव आवश्यक है। यद्यपि अहिंसक बहुत-सी हिंसा में प्रत्यक्ष भागीदार नहीं होता, परन्तु यदि सामर्थ्य होते हुए भी उनका मौन अन्य लोगों को यदि हिंसा हेतु नहीं रोकता है तो ऐसे आचरण को कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। अतः अहिंसा का पालन करने वालों को अपनी क्षमतानुसार जनसाधारण को अहिंसक विकल्प हेतु भी जन-जागरण करना चाहिये। हिंसा अत्याचार हैं। अत्याचार को क्षमता होते हुए भी सहन करने वाले अत्याचार करने के समान दोषी होते हैं।

अहिंसक जीवन हेतु अनावश्यक हिंसा के त्याग का संकल्प आवश्यक:-

अहिंसक व्यक्ति को प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय अपने आपसे पूछना होगा कि वह प्रवृत्ति क्यों आवश्यक हैं? क्या उसके बिना बिल्कुल कार्य नहीं चल सकता? उस प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनावश्यक हिंसा को तो प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है? क्या उसका कोई अहिंसक विकल्प है? विकल्प न होने की स्थिति में भी उसका लक्ष्य जीवन के

लिये अनिवार्य अल्पतम हिंसा का ही होता है। वह अपनी आवश्यकताओं का निर्धारण करते समय अहिंसक जीवन शैली को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। अनिवार्य जीवनोपयोगी हिंसा को सीमित करने के लिये भी उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुरूप मर्यादा करनी चाहिये, ताकि उन द्रव्यों के अलावा अन्य द्रव्यों एवं क्षेत्र से बाहर रहने वाले जीव तथा जिस काल तक के लिये संकल्प लिया गया तब तक छः काया के जीवों को उसकी तरफ से पूर्ण निर्भयता मिल सकें। परन्तु आजकल अधिकांश व्यक्ति प्रायः व्रत, नियम अथवा संकल्प नहीं लेना चाहते। जिस प्रकार अपने अधिकार वाले खाली मकान का भी किराया देना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार बिना संकल्प हम उस अप्रत्यक्ष हिंसा के सम्पूर्ण दोषों से नहीं बच सकते।

अहिंसक जीवन जीना असंभव नहीं संभव हैं :-

अहिंसक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय न केवल हिंसा से बचना चाहिये, अपितु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनके अविवेक के कारण, दूसरों पर आश्रित परावलम्बी जीवन जीने के कारण व्यर्थ जीवों की उत्पत्ति न हो और उनकी हिंसा के दोष से हम न बच सकें। जैसे घर में झूठे बर्तन पुनः तुरन्त सफाई न करना, पानी न छानना, गन्दगी और शारीरिक मल का विसर्जन करते समय स्थान का ध्यान न रखना, रात-दिन उपयोग में आने वाली वस्तुओं की बराबर देखभाल न करना, जिससे जीवों की उत्पत्ति हो। अहिंसा का पालन करने वालों को स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। अनावश्यक लोक-व्यवहारों से बचकर परिचय घटाना होगा और जीवन की आवश्यकताओं को अल्पतम करना होगा। मन, वचन और काया के अशुभ योगों से अपने को अलग रखना होगा। उनका जीवन संयमित, नियमित, परिमित, सजग, विवेकपूर्ण होना चाहिये। उन्हें प्रतिक्षण चिन्तन करना चाहिये कि उनकी प्रवृत्तियाँ हिंसा को प्रोत्साहन तो नहीं दे रही हैं। जीवन के लिये होने वाली अल्पतम हिंसा के लिये भी उनकी लाचारी होनी चाहिये न कि उपेक्षा। ऐसे दृढ़ मनोबली का जीवन निश्चित रूप से अहिंसक ही होता है। जितनी-जितनी इन बातों की पालना होगी, उतना-उतना अहिंसक जीवन बनता जायेगा। अतः अहिंसक जीवन जीना कठिन अवश्य है, असंभव नहीं।

अच्छे स्वास्थ्य हेतु संयम आवश्यक

शुद्धात्मा- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का स्रोत होती है तथा उस अवस्था में स्वास्थ्य की कोई समस्या नहीं होती। जितनी-जितनी उसकी मलिनता, उतनी-उतनी स्वास्थ्य की समस्या। परन्तु जब वह कर्मों के आवरणों से आच्छादित हो मलीन अथवा अपवित्र बन जाती है तो कर्मों के आवरण के घनत्व के अनुसार उसकी सारी शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं।

प्राण ऊर्जा और ऊर्जा के स्रोत :-

जब मानव का जीव गर्भ में आता है तो उसे अपने कर्मों के अनुसार आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन रूपी छः मूल ऊर्जा के स्रोत अर्थात् पर्याप्तियाँ ;ठपवचवजमदजपंस म्दमतहलै वनतबमद्ध प्राप्त होते हैं। प्रत्येक पर्याप्ति चुम्बक की भाँति अपने-अपने गुणों के अनुसार पुद्गलों को आकर्षित कर मानव शरीर का विकास करती है। जिन्हें ये शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्राप्त होती हैं, उनका सम्पूर्ण एवं संतुलित विकास होता है तथा जिन्हें ये पर्याप्तियाँ आंशिक रूप में प्राप्त होती हैं उनका विकास आंशिक ही होता है।

मानव को प्राप्त 10 प्राण :-

चेतना के विकास में इन्द्रियों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। प्रायः अन्य चिकित्सा वैज्ञानिकों ने उनकी शरीर के एक अवयव तक ही कल्पना की। उनका सम्बन्ध पंच तत्त्वों में से किसी तत्त्व अथवा अंग तक ही सीमित कर दिया। ये जीवनी शक्तियाँ कार्य के अनुसार मुख्य रूप से दस भागों में रूपान्तरित हो मानव की समस्त गतिविधियों का संचालन करती हैं। जिन्हें प्राण भी कहते हैं। प्राण जीवन को शक्ति प्रदान करते हैं। प्रत्येक प्राण अपने लिये आवश्यक पुद्गलों को आसपास के वातावरण से ग्रहण कर अपना-अपना कार्य कर सकते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण-	जिससे सुनने योग्य पुद्गलों को आकर्षित करने की शक्ति प्राप्त होती है।			
चक्षुइन्द्रिय बल प्राण-	जिससे देखने	"	"	"
घ्राणेन्द्रिय बल प्राण-	जिससे गंध लेने	"	"	"
रसनेन्द्रिय बल प्राण-	जिससे स्वाद	"	"	"
स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण-	जिससे स्पर्श	"	"	"
श्वसोच्छ्वास बल प्राण-	जिससे श्वसन योग्य	"	"	"
मन बल प्राण-	जिससे मनोवर्गणा	"	"	"
वचन बल प्राण-	जिससे भाषा वर्गणा	"	"	"
काय बल प्राण-	जिससे हलन-चलन	"	"	"
आयुष्य बल प्राण-	जिसके कारण जीव निश्चित अवधि तक किसी योनि में रह सकता है।			

सारी प्राण शक्तियाँ आपसी सहयोग और समन्वय से कार्य करती हैं, परन्तु एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकती। आँख सुन नहीं सकती, कान बोल नहीं सकता, नाक देख नहीं सकता इत्यादि। सबमें आयुष्य बल प्राण मुख्य होता है तथा उसके समाप्त होते ही अन्य प्राण प्रभावहीन हो जाते हैं। आयुष्य प्राण का प्रमुख सहयोगी श्वसोच्छ्वास बल प्राण होता है।

प्राण ऊर्जा का जितना सूक्ष्म एवं तर्कसंगत विश्लेषण महावीर दर्शन में हैं उतना आधुनिक चिकित्सा पद्धति में भी नहीं किया गया। इसी कारण आँख, नाक, कान आदि जड़ उपकरणों की खराबियों को दूर करने में तो आधुनिक चिकित्सकों को आंशिक सफलता मिली परन्तु जिनमें प्राण ऊर्जा का मौलिक प्रवाह ही नहीं हों, उनको सुधार पाने में उन्हें अभी तक सफलता नहीं मिली।

संयम ही जीवन है :-

स्वास्थ्य की दृष्टि से इन पर्याप्तियों और प्राणों का बहुत महत्त्व होता है। अतः प्राणों और पर्याप्तियों का संयम एवं सदुपयोग सर्वाधिक आवश्यक है। पर्याप्तियों और प्राण के संयम का मतलब हम उनका अनावश्यक दुरुपयोग अथवा अपव्यय न करें, अपितु अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे कर्मों से छुटकारा पाने हेतु सदुपयोग एवं सम्यक पुरुषार्थ करें।

आहार संयम- जीवन चलाने के लिये जितना आवश्यक हों, निर्दोष, शुद्ध सात्त्विक, भक्ष्य-अभक्ष्य, का विवेक रखकर आहार-पानी आदि ग्रहण करना। भोजन को प्रसाद की भाँति प्रसन्नता पूर्वक शांत चित्त से करना।

- शरीर का संयम-** शरीर की अनावश्यक प्रवृत्तियों से बचना, बिना कारण न तो चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना और न प्रमाद करना। परन्तु आत्म-विकारों को दूर कर कर्मों से मुक्त करने हेतु सम्यक् पुरुषार्थ करना।
- इन्द्रियों का संयम-** आँख है तो दिखेगा, देखे बिना नहीं रहा जा सकता। दिखना अलग है, देखना अलग है, देखते रहना अलग है, दिखने वाले की प्रतिक्रिया करना, स्मृति रखना, कामना करना अथवा आसक्ति रखना अलग-अलग देखने के स्तर होते हैं। अतः क्या देखना और क्या नहीं देखने का विवेक ही आँख का संयम होता है। स्वाध्याय, सेवा, संत-दर्शन आँखों का सदुपयोग है तो काम-विकार बढ़ाने वाले साहित्य को पढ़ना एवं दृश्यों को देखना आँखों का दुरुपयोग होता है। इसी प्रकार कान है तो सुनायी देगा। परन्तु सुनायी देना अलग है, सुनना अलग है, सुनते रहना अलग है तथा सुने हुए की स्मृति, कामना, रखना अलग होता है। राग-द्वेष और काम-विकार बढ़ाने वाली विकथाएँ आदि सुनना कानों का दुरुपयोग होता है। अतः कानों से क्या सुनना और क्या नहीं सुनने का सम्यक् विवेक आवश्यक होता है। इसी प्रकार नाक, जीभ एवं शरीर का सदुपयोग करना चाहिए। इन्द्रियों से क्षमता से अधिक तथा अनावश्यक कार्य न लेना, वीर्य का नियन्त्रण रखना अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना, इन्द्रिय विषयों को उत्तेजित करने वाली प्रवृत्तियों एवं वातावरण से यथा संभव दूर रहना, इन्द्रिय संयम होता है।
- श्वास का संयम-** मन्द गति से पूर्ण श्वास लेना तथा पूरक और रेशक के साथ-साथ कुम्भक कर श्वास को अधिकाधिक विश्राम देना। जितना अधिक श्वास का संयम होता है, उतना व्यक्ति तनाव के कारणों से सहज बच जाता है। इससे शरीर और मन को बहुत आराम मिलता है। आवेग नहीं आते हैं। आवेग से शरीर में असंतुलन और रोग होने की संभावनाएँ बढ़ जाती है।
- भाषा का संयम-** अनावश्यक बोलने से जीवनी शक्ति क्षीण होती है। आवश्यकता पड़ने पर सभ्य भाषा में सीमित एवं मधुर बोलना अथवा मौन रहना आदि वाणी का संयम होता है। निंदा करना, चुगली करना, गाली या अपशब्द बोलना, स्वप्रशंसा, क्लेशकारी भाषा बोलना, झूठे कलंक, आरोप लगाना, बिना कारण पंचायती करना, गप्पे मारना, व्यंग करना आदि वाणी का दुरुपयोग होता है। सोच समझ कर तोल-तोल कर क्या, कहाँ और कैसे बोलना तथा क्यों और कहाँ चुप रहने का विवेक भाषा का संयम होता है। मौन रखना भाषा का उत्कृष्ट संयम होता है। वाणी के प्रकम्पन हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। ध्वनि और मंत्र चिकित्सा का यही आधार होता है। वाणी शरीर और मन दोनों को प्रभावित करती है।
- मन का संयम-** मन से अनावश्यक मनन, चिन्तन, स्मृति और कल्पनाएँ न करना अर्थात् मन की सम्यक् प्रवृत्ति करना। मनोबल कमजोर करने वाले दृश्यों को न तो देखना और न सुनना मन का संयम होता है। हिंसा, क्रूरता, घृणा, कामुकता, भय इत्यादि मनोबल कमजोर करने वाली प्रवृत्तियाँ मन का असंयम होता है।

उपरोक्त सभी पर्याप्तियों का सम्यक् उपयोग अर्थात् संयम स्वास्थ्य की कुंजी होता है। सभी रोगों का कारण पर्याप्तियों के असंयम से होने वाले प्राणों का असंतुलन ही होता है। पर्याप्तियों के संयम से शरीर में रोग उत्पन्न होने की संभावनाएँ काफी कम हो जाती है और यदि रोग की स्थिति हो भी जाती है तो आहार एवं अन्य पर्याप्तियों, के संयम से पुनः शीघ्र स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सम्यक् दर्शन एवं स्वास्थ्य

स्वस्थ कौन ?

स्वास्थ्य का मतलब है- स्व में स्थित हो जाना अर्थात् अपने निज स्वरूप में आ जाना या विभाव अवस्था से स्वभाव में आ जाना। जैसे अग्नि के सम्पर्क से पानी गरम हो जाता है, उबलने लगता है। परन्तु जैसे ही अग्नि से उसको अलग करते हैं, धीरे-धीरे वह ठण्डा हो जाता है। शीतलता पानी का स्वभाव है, उष्णता नहीं। उसको वातावरण के अनुरूप रखने के लिये किसी बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार शरीर में जैसे हड्डियों का स्वभाव कठोरता है, परन्तु किसी कारणवश कोई हड्डी नरम हो जाए तो रोग का कारण बन जाती है। मांसपेशियों का स्वभाव लचीलापन है, परन्तु उसमें कहीं कठोरता आ जाती है तो गाँठ बन जाती है, तो शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। हृदय एवं रक्त को शरीर में अपेक्षाकृत गरम रहना चाहिये, परन्तु यदि वे ठण्डे हो जाए। मस्तिष्क तनावमुक्त शान्त रहना चाहिये, परन्तु वह उत्तेजित हो जाए। शरीर का तापक्रम 98.4 डि.ग्री. फारेहनाईट रहना चाहिये, परन्तु वह बढ़ जाए अथवा कम हो जाए। शरीर में सभी अंगों एवं उपांगों का आकार निश्चित होता है, परन्तु वैसा न हो। विकास जिस अनुपात में होना चाहिये उस अनुपात में न हो। जैसे शरीर बेढंगा हो, शरीर में विकलांगता हो, आँखों की दृष्टि कमजोर हो, कान से कम सुनायी देता हो, मुँह से बराबर बोल न सके आदि शरीर की विभाव दशाएँ हैं, अतः रोग के प्रतीक हैं। शरीर का गुण है - जो अंग और उपांग शरीर में जिस स्थान पर स्थित होता है उनको वहीं स्थित रखना। हलन-चलन के बावजूद आगे पीछे न होने देना। शरीर में विकार उत्पन्न हो जाने पर उसको दूर कर पुनः अच्छा करना। यदि कोई हड्डी टूट जावे तो उसे पुनः जोड़ना। चोट लग जाने से घाव हो गया हो तो उसको भरना तथा पुनः त्वचा का आवरण लगाना। रक्त बहने अथवा रक्त-दान आदि से शरीर में रक्त की कमी हो गई हो तो उसकी पुनः पूर्ति करना। ये सब कार्य, गुण यानि शरीर के स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश शरीर इन कार्यों को बराबर न करे तो यह उसकी विभावदशा होती है अर्थात् शारीरिक रोगों का प्रतीक है।

शरीर विभिन्न तन्त्रों का समूह है। जैसे ज्ञानतन्त्र, नाडीतन्त्र, श्वसन, पाचन, विसर्जन, मज्जा, अस्थि, लासिका, शुद्धिकरण, प्रजनन तन्त्र आदि। सभी आपसी सहयोग से अपना-अपना कार्य स्वयं ही करते हैं, क्योंकि ये चेतनाशील प्राणी के लक्षण अथवा स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश कोई भी तन्त्र शिथिल हो जाता है एवम् उसके कार्य को संचालित अथवा नियन्त्रित करने के लिये बाह्य सहयोग लेना पड़े तो यह शरीर की विभावदशा होती है। जो शारीरिक रोग का सूचक होता है।

मन का कार्य मनन करना, चिन्तन करना, संकल्प-विकल्प करना, इच्छाएँ करना आदि होता है। इस पर जब ज्ञान एवम् विवेक का अंकुश रहता है तो वह शुभ में प्रवृत्ति करता है, व्यक्ति को नर से नारायण बनाता है। परन्तु जब स्वच्छन्द होता है तो अपने लक्ष्य से भटका देता है। जब चाहा, जैसा चाहा चिन्तन, मनन, इच्छा, एषणा, आवेग करने लग जाता है। जिसका परिणाम होता है- क्रोध, मान, माया, लोभ, असंयम, द्वन्द्व, प्रमाद, जैसी अशुभ प्रवृत्तियाँ। ये सब मानसिक रोगों के कारण होते हैं। इसके विपरीत क्षमा, करुणा, दया, मैत्री, सेवा, विनम्रता, सरलता, संतोष, संयम एवम् शुभ प्रवृत्तियाँ मन के उचित कार्य होते हैं। अतः मानसिक स्वस्थता के प्रतीक होते हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह आत्मा की विभावदशा होती है, जो कर्मों के आवरण से उसको अपना भान नहीं होने देती, अतः आत्मा के रोग होते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, वीतरागता शुद्धात्मा के लक्षण होते हैं जो आत्मा की स्वस्थता के द्योतक होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति केवल झूठ बोलकर ही जीना चाहे, सत्य बोले ही नहीं, तो क्या दीर्घकाल तक अपना जीवन सुचारू रूप से चला सकता है? नहीं, क्योंकि झूठ बोलना आत्मा का स्वभाव नहीं है। व्यक्ति छोटा हो

या बड़ा अपने स्वभाव में बिना किसी परेशानी के सदैव रह सकता है। बाह्य आलम्बनों एवम् परिस्थितियों में जितना-जितना वह विभाव अवस्था में जाएगा, शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक रोगी बनता जाएगा। जितना-जितना अपने स्वभाव को विकसित करेगा, स्वस्थ बनता जाएगा। अपने आपको पूर्ण स्वस्थ रखने की कामना रखने वालों को इस तथ्य, सत्य का चिन्तन कर अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ना चाहिये।

सम्यग्दर्शी का चिन्तन-

सम्यग्दर्शन का सीधा-साधा सरल अर्थ होता है सही दृष्टि, सत्य दृष्टि, सही विश्वास। अर्थात् जो वस्तु जैसी है जितनी महत्त्वपूर्ण है, जितनी उपयोगी है उसको उसके स्वरूप, गुण एवं धर्म के आधार पर जानना। सम्यक् दर्शन से स्वविवेक जागृत होता है। स्वदोषदर्शन की प्रवृत्ति विकसित होती है। वस्तुस्थिति ऐसी हो गई है कि हमारा शरीर रूपी नौकर एवम् मन रूपी मुनिम, आत्मा रूपी मालिक पर शासन कर रहे हैं। हमारी स्थिति उस शेर के समान हो गई है जो भेंड़ियों के बीच पल कर बड़ा होने से अपनी शक्तियों का भान भूल जाता है। सम्यग्दर्शन से आत्मा और शरीर का भेदज्ञान होता है। आत्मा का साक्षात्कार होने से उसकी अनन्त शक्ति का भान होने लगता है। उसके ऊपर आये कर्मों की तरफ दृष्टि जाने लगती है। उसके शुद्धिकरण का प्रयास प्रारम्भ होने लगता है। सभी चेतनाशील प्राणियों में एक जैसी आत्मा के दर्शन होने लगते हैं। सत्य प्रकट होते ही पूर्वाग्रह एवम् एकान्तवादी दृष्टिकोण समाप्त होने लगता है। अनेकान्तवादी दृष्टि विकसित होने लगती है। जैसे खुद को पीड़ा, दुःख होता है वैसे ही दूसरों के दुःख का अनुभव होने लगता है।

अतः स्वयं के लाभ के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति कम होने लगती है। सत्य को पाने के लिये उसका सारा प्रयास होने लगता है एवम् अनुपयोगी कार्यों के प्रति उसमें उदासीनता आने लगती है। जीवन में समभाव बढ़ने लगता है अर्थात् उसके जीवन में सम (समता), संवेग (सत्य को पाने की तीव्र अभिलाषा), निर्वेद (अनुपयोगी कार्यों के प्रति उपेक्षावृत्ति) अनुकम्पा (प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा, परोपकार, मैत्री के भाव) तथा सत्य के प्रति आस्था हो जाती है। यही व्यवहार में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण होते हैं। उसका उद्देश्य मेरा जो सच्चा के स्थान पर सच्चा जो मेरा हो जाता है। उसका जीवन स्व-पर कल्याण के लिये ही कार्यरत रहता है। उसमें प्रत्येक क्रिया को सम्यक् प्रकार से करने का विवेक रहता है।

पूर्वकृत कर्मों का वर्तमान जीवन से सम्बन्ध-

जन्म के साथ मृत्यु निश्चित है। पूर्वकृत पुण्यों के आधार पर हम प्राण ऊर्जा अर्थात् श्वासों के रूप में आयुष्य का जो खजाना लेकर आते हैं वह प्रतिक्षण कम होता जा रहा है। जीवन के अंतिम समय तक उस संचित, संगृहीत प्राण ऊर्जा को संतुलित एवं नियन्त्रित कैसे रखा जाए, यह स्वास्थ्य की मूलभूत आवश्यकता है। पूर्वकृत कर्मों के आधार पर ही हमें अपना स्वास्थ्य, सत्ता, साधन, संयोग अथवा वियोग मिलते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियाँ बनती हैं। परन्तु कभी-कभी पूर्वकृत पुण्यों के उदय से व्यक्ति को मनचाहा रूप, सत्ता, बल, साधन एवम् सफलताएँ लगातार मिलने लगती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियाँ, वियोग, रोग यदि उत्पन्न न हों तो व्यक्ति अज्ञानवश अभिमानपूर्वक कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। अपनी सफलताओं का अहम् करने वालों के जैसे ही पूर्वकृत पुण्यों का क्षय हो जाता है और अशुभ कर्मों का उदय प्रारम्भ होने लगता है, उसका अहम् चूर-चूर हो जाता है। अपराध के प्रथम प्रयास में न पकड़ा जाने वाला यदि अपनी सफलता पर गर्व करे तो यह उसका अज्ञान ही समझना चाहिए।

कर्मसिद्धान्त को समझने के लिये हमें चिन्तन करना होगा कि वे कौनसे कारण हैं, जिनसे बहुत से बालक जन्म से ही विकलांग अथवा रोगग्रस्त होते हैं? कोई गरीब के घर में तो कोई अमीर के घर में जन्म क्यों लेते हैं? कोई बुद्धिमान तो कोई मूर्ख क्यों बनते हैं? भारतीय संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र का सर्वोच्च पद प्राप्त करने का अधिकार है, परन्तु चाहते हुए अथवा प्रयास करने के बावजूद भी सभी राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री क्यों नहीं बन पाते? संसार की सारी विसंगतियाँ एवम् हमारे चारों तरफ का वातावरण हमें पुर्नजन्म एवम् कर्मों की सत्ता के बारे में निरन्तर सजग और सतर्क कर रहे हैं। अज्ञानवश उसके महत्त्व को न स्वीकारने से उसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। पारस को पत्थर कहने से वह पत्थर नहीं हो जाता और पत्थर को पारस मान लेने से वह पारस नहीं बन जाता। 'सम्यक् दर्शन' रोग के इस मूल कारण पर दृष्टि डालता है एवम् कर्मों को दूर करने की प्रेरणा देता है, जो अच्छे स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक है।

सम्यग्दर्शी का चिकित्सा के प्रति दृष्टिकोण-

सम्यक्दर्शन होने पर व्यक्ति रोग के प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, वर्तमान एवम् भूत सम्बन्धी शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक कारणों का चिन्तन करेगा, समझेगा और उन कारणों से बचने का प्रयास करने लगेगा। फलतः रोग उत्पन्न होने की सम्भावनायें बहुत कम हो जाएगी, जो स्वस्थ रहने के लिये अति आवश्यक है। रोग उत्पन्न हो भी गया हो तो उसके लिये दूसरों को दोष देने के बजाय स्वयं की गलतियों को ही उसका प्रमुख कारण मानेगा तथा धैर्य एवं सहनशीलता पूर्वक उसका उपचार करेगा। उपचार करते समय क्षणिक राहत से प्रभावित नहीं होगा, दुष्प्रभावों की उपेक्षा नहीं करेगा। साधन, साध्य एवम् सामग्री की पवित्रता पर विशेष ध्यान रखेगा। ऐसी दवाओं से बचेगा जिसके निर्माण एवम् परीक्षण में किसी भी जीव को कष्ट पहुँचता हो। उपचार के लिये अनावश्यक हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देगा। आशय यह है कि सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् व्यक्ति पाप के कार्यों अर्थात् अशुभ प्रवृत्तियों से यथासम्भव बचने का प्रयास करता है। उसका जीवन पानी में कमल की भाँति निर्लिप्त होने लगता है। प्रत्येक कार्य को करने में उसका विवेक एवं सजगता जागृत होने लगती है। अनुकूल एवम् प्रतिकूल परिस्थितियों का उस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उसका प्रयास नवीन कर्मों को क्षय कर आत्मा को नर से नारायण बनाने का होता है। यही स्वास्थ्य का सम्यक् दर्शन होता है।

क्या उपचार हेतु हिंसा उचित है?

उपचार की आवश्यकता-

स्वस्थ जीवन मानव की सर्वोच्च आवश्यकता है। मनुष्य कैसे स्वस्थ रह सके? इस हेतु चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े चिकित्सों एवं वैज्ञानिकों द्वारा विश्व स्तर पर निरन्तर शोध एवं प्रयास चल रहे हैं ताकि "पहला सुख निरोगी काया" प्राप्त कराने में वे सहयोग दे सकें। हमारे शरीर में स्वतः स्वस्थ होने की अपूर्व क्षमता है एवं जो भी उपचार पद्धतियाँ बिना किसी दुष्प्रभाव शरीर की क्षमताओं को बढ़ाने के सिद्धांत पर उपचार करती हैं, वे ही रोगों को जड़ मूल से समाप्त कर सकती हैं, अन्य नहीं। हमें पूर्वाग्रह छोड़ उपचार के बारे में सभी दृष्टिकोणों से चिन्तन करना होगा, स्वस्थता को समझना होगा, तब ही हम स्वयं स्वस्थ रहते हुए, जनसाधारण को स्वस्थ रखने में सफल हो सकेंगे।

स्वास्थ्य के नियम-

स्वस्थता क्या है? स्वस्थ कौन है? ज्ञानियों ने स्वस्थता का विवेचन करते हुये स्पष्ट कहा- “जो मन, वचन, कर्म से शुद्ध है, जो प्रत्येक अवस्था में प्रसन्न है, जो कार्य को कर्तव्य समझ कर करता है, जिसकी पाचन एवं श्वसन क्रिया ठीक है, भूख प्राकृतिक है, नींद स्वाभाविक लेता है, चेहरे एवं आँखों में चमक है, नाड़ी संस्थान शक्तिशाली है, जो अहिंसावादी है, निर्भीक है, आशावादी है, निस्पृही है, निरहंकारी है, शांत है, संतोषी एवं तनाव मुक्त है।” प्रकृति से असहयोग का दण्ड रोग होता है एवं जब तक उससे सहयोग नहीं करते मानव कैसे रोग मुक्त रह सकता है? हम सबके लिए चिन्तन का प्रश्न है?

स्वस्थ का पारिभाषिक अर्थ होता है-“स्व में स्थित होना” अर्थात् अपने सही स्वरूप में आ जाना, विभाव अवस्था से पुनः स्वभाव में आना। जैसे हमारे शरीर से कोई हड्डी अपना स्थान छोड़ देती है तो हमें कितना कष्ट होता है। जब तक पुनः यथास्थान पर नहीं आ जाती, हम राहत का अनुभव नहीं करते। अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा, करुणा, सरलता, विनय, संतोष, संयम मनुष्य का स्वभाव है, जिसका पालन वह लगातार कर सकता है। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, क्रूरता, अत्याचार, क्रोध, अहम्, माया, लोभ, स्वच्छन्दता हमारे विभाव हैं। अतः जो-जो प्रवृत्तियाँ मानवीय गुणों को विकसित करती हैं, हमारे स्वभाव को संतुलित रखती हैं, पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति में सहायक हैं तथा इसके विपरीत जितनी-जितनी पाश्विक वृत्तियाँ हमारे अन्दर बढ़ती जावेंगी, उतने-उतने हम स्वस्थता से भटकते जावेंगे। सभी उपचार विशेषज्ञों को इस मूल सिद्धान्त का ध्यान रखना चाहिये।

रोग होने के कारण-

रोग होने के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे- हमारे पूर्व जन्म के संचित असाता वेदनीय कर्मों का उदय, पैतृक संस्कार, दुर्घटना, असाध्य अथवा संक्रामक रोगों के प्रति प्रारम्भ से रखी गई उपेक्षावृत्ति, शरीर की क्षमता को क्षीण करने वाली दवाइयों का प्रयोग, दूषित खान-पान (खाद्य-सामग्री में मिलावट), विभिन्न इलेक्ट्रॉनिक एवं बिजली के उपकरणों से निकलने वाली मोबाइल, टी.वी., एक्स-रे, कम्प्यूटर, टी.वी. एवं बिजली के टावर, डिस्क जैसे आणविक हानिकारक किरणों, नकारात्मक सोच, मानसिक प्रदूषण, आचार-विचार एवं रहन-सहन, व्यसनों की पराधीनता, पर्यावरण, प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन, हमारी पाश्विक वृत्तियाँ, आवेग, तनाव आदि प्रमुख कारण हैं। आरोग्य रहने के लिए आवश्यक है कि यथा सम्भव प्राकृतिक नियमों का पालन किया जावे, शुद्ध हवा, शुद्ध पानी, धूप का सेवन हो, शुद्ध, सात्विक एवं संतुलित आहार किया जावे तथा तनाव के कारणों से यथा सम्भव बचा जावे। इन नियमों की उपेक्षा कर अपने आप को स्वस्थ रखने की कल्पना आग लगाकर ठण्डक प्राप्त करने के समान होगी।

स्वास्थ्य हेतु चिकित्सा के विभिन्न दृष्टिकोण:-

रोग की अवस्था में आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर में वात, पित्त और कफ का असन्तुलन होने लगता है। आधुनिक चिकित्सक को मल, मूत्र, रक्त आदि के परीक्षणों में रोग के लक्षण और शरीर में रोग के कीटाणुओं तथा वायरस दृष्टिगत होने लगता है। मुद्रा एवं प्राकृतिक चिकित्सक ऐसी स्थिति में शरीर के निर्माण में सहयोगी पंच तत्त्व पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश तत्त्व का असन्तुलन अनुभव करते हैं। चीनी एक्जुपंक्चर एवं एक्जुप्रेशर के विशेषज्ञों के अनुसार शरीर के यिन-यांग का असंतुलन हो जाता है। एक्जुप्रेशर के प्रतिवेदन बिन्दुओं की मान्यता वाले थैरेपिस्टों को व्यक्ति की हथेली और पगथली में विजातीय तत्त्वों का जमाव प्रतीत होने लगता है। सुजोक बियोल मेरेडियन सिद्धान्तानुसार रोगी के शरीर में पंच ऊर्जाओं (वायु, गर्मी, ठण्डक, नमी और शुष्कता) का

आवश्यक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। चुम्बकीय चिकित्सक शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का असन्तुलन अनुभव करते हैं। ज्योतिष शास्त्री ऐसी परिस्थिति का कारण प्रतिकूल ग्रहों का प्रभाव बतलाते हैं। आध्यात्मिक योगी ऐसी अवस्था का कारण पूर्वार्जित अशुभ असाता वेदनीय कर्मों का उदय मानते हैं। होम्योपेथ और बायोकेमिस्ट की मान्यातानुसार शरीर में आवश्यक रासायनिक तत्वों का अनुपात बिगड़ने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होने लगती है। आहार विशेषज्ञ शरीर में पौष्टिक तत्वों का अभाव बतलाते हैं। शरीर में अम्ल-क्षार, ताप-ठण्डक का असन्तुलन बढ़ने लगता है। कहने का आशय यही है कि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार शरीर में इन विकारों की उपस्थिति को रोग अथवा अस्वस्थता का कारण मानते हैं। जो जैसा कारण बतलाता है, उसी के अनुरूप उपचार और परहेज रखने का परामर्श देते हैं। सभी को आंशिक सफलताएँ भी प्राप्त हो रही है तथा सफलताओं एवं अच्छे परिणामों के लम्बे-लम्बे दावे अपनी-अपनी चिकित्सा पद्धतियों के सुनने को मिल रहे हैं। विज्ञान के इस युग में किसी पद्धति को बिना सोचे-समझे अवैज्ञानिक मानना, न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता है।

राहत ही पूर्ण उपचार नहीं होता:-

आज उपचार के नाम पर रोग के कारणों को दूर करने के बजाय अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर रोग के लक्षण मिटाने का प्रयास हो रहा है। उपचार में समग्र दृष्टिकोण का अभाव होने से तथा रोग का कारण पता लगाये बिना उपचार किया जा रहा है अर्थात् रोग से राहत ही उपचार का लक्ष्य बनता जा रहा है। भावात्मक एवं मानसिक असंतुलन, तनाव, आवेग जैसे प्रमुख कारण हमारी अन्तःश्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं। हमारे शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास का ग्रन्थियों से सम्बन्ध होता है। ग्रन्थियों का असन्तुलन हमारे 60 % से 75 % रोगों का मूल कारण होता है, फिर भी आधुनिकता का एवं सम्पूर्ण चिकित्सा का दम्भ भरने वाली उपचार पद्धतियों के पास उसको सन्तुलित रखने का कोई सरल एवं प्रभावशाली उपाय नहीं है। आज राहत को ही प्रभावशाली उपचार समझने की भूल हो रही है। उपचार में दुष्प्रभावों की उपेक्षा हो रही है। ऐसा उपचार दीमक लगी लकड़ी पर रंग-रोगन कर चमकाने के समान होता है तथा हमारी असजगता, अविवेक एवं अज्ञान का परिचायक। रूई में लगी आग को हम कब तक छिपाये रख सकेंगे? आज उपचार के नाम पर मूल में भूल हो रही है। रोगों के कारणों की उपेक्षा कर उन्हें दूर करने के बजाय उन्हें दबाकर तात्कालिक राहत पहुँचायी जाती है। गन्दगी को सफाई के नाम पर दबाकर या छिपाकर रखने से हानि ही अधिक होगी। उसमें सड़ान्ध, दुर्गन्धता बढ़ेगी। उसी प्रकार शरीर में रोग को दबाने से वह भविष्य में विकराल रूप धारण करेगा एवं असाध्य बन अधिक परेशानी तथा संकट का कारण बनेगा।

मानव शरीर की क्षमताएँ-

जब कलाकार सम्पूर्ण होता है तो उसकी कला भी परिपूर्ण ही होती है। जैसे अच्छे स्वचालित यन्त्र में खतरा उपस्थित होने पर स्वतः उसके ठीक करने की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार सृष्टि के निर्माता ने स्वचालित मानव रूपी शरीर के यन्त्र में सभी स्वचालित नियन्त्रण दे रखे हैं, जिससे उसमें रोगों से बचने की क्षमता रहे। आवश्यकता है उन क्षमताओं को समझने की एवं धैर्य, सहनशीलता पूर्वक उसका सही उपयोग करने की।

स्वास्थ्य के प्रति हमारी असजगता के परिणाम-

आज का मानव कहने को तो अपने आपको सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान, प्रगतिशील, चिन्तक मानता है परन्तु अधिकांश व्यक्ति स्वयं के स्वास्थ्य के प्रति इतने उदासीन, उपेक्षित रहते हैं कि उनका स्वास्थ्य भाग्य के भरोसे अथवा चिकित्सकों के हाथों में होता है। आरोग्यता के नियमों का पालन किये बिना डॉक्टरों के मधुर-मधुर

आश्वासनों के सहारे स्वस्थ रहने के प्रयास में वे पूर्ण सुखी नहीं हैं। कुछ रोगों में तो दवाइयाँ उनके जीवन की आवश्यकता बनती जा रही हैं। संक्रामक रोगों में तो रोगी का जीवन दवा के सहारे ही चलने लगता है। इसका प्रमुख कारण रोगी विज्ञापनों, प्रदर्शनों, डॉक्टरों की बड़ी-बड़ी डिग्रियों एवं उनके पास पड़ने वाली भीड़ से भ्रमित हो साधारण से रोगों में डॉक्टरों के सामने अन्ध श्रद्धा के कारण अपना आत्म समर्पण कर अपनी शारीरिक क्षमताओं को तो नष्ट करते ही हैं, तात्कालिक राहत के नाम पर अज्ञानतावश स्वयं पर डॉक्टरों द्वारा किये जा रहे, प्रयोगों एवं दवाओं के दुष्प्रभावों से पूर्ण रूपेण बेखबर हैं। रोगी को तत्काल राहत पहुँचाने का प्रयास, दुःख को भुलाने के लिये शराब के नशे में अपना भान भुलाने के समान ही होता है। यदि आधुनिक उपचार प्रभावशाली होते तो रोगों से तत्काल राहत मिलती और आज अस्पताल खाली रहते ?

गलत दवा का परामर्श देने वाले अथवा गलत उपचार करने वाले चिकित्सकों पर उससे पड़ने वाले नुकसान के भुगतान का कानूनी प्रावधान न होने एवं हमारी असजगता के फलस्वरूप चिकित्सा का पावन क्षेत्र अधिकांश डॉक्टरों की उपेक्षावृत्ति, अहं एवं अनुभव के अभाव में रोगी पर प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के कारण दूषित होता जा रहा है। चिकित्सकों में दया, करुणा, सेवा, परोपकार, संतोषवृत्ति के अभाव में अनावश्यक परीक्षण करवा रोगी के साथ न्याय नहीं हो रहा है। दवा निर्माताओं एवं विक्रेताओं के भ्रामक विज्ञापन एवं आंकड़े, डॉक्टरों की धनोपार्जन की मनोवृत्ति, अन्य चिकित्सा पद्धतियों के प्रति अज्ञानता के कारण बनी धारणाएँ, उनका संकुचित दृष्टिकोण और अहम् उनको स्वार्थी बना रहा है। स्वास्थ्य मंत्रालय का पूर्वग्रसित पक्षपातपूर्ण एक पक्षीय दृष्टिकोण, संकुचित मान्यताएँ, नीतियाँ, दवाओं के दुष्प्रभावों की जानकारी जन-साधारण को उपलब्ध न कराना एवं एकपक्षीय सफलताओं के आंकड़े प्रसारित करना, हमारे स्वास्थ्य की समस्याओं के समाधान में बाधक बन, आग में घी का काम कर रहे हैं। जब तक चिकित्सकों में सेवा, दया, संतोष जैसे मानवीय गुणों का मापदण्ड निर्धारित नहीं होगा तथा व्यापाक दृष्टिकोण के साथ निष्पक्षता पूर्वक अच्छे स्वास्थ्य के मापदण्डों को स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा परिभाषित नहीं किया जायेगा, राहत और उपचार के अंतर का स्पष्टीकरण न किया जायेगा, मन एवं आत्मबल को उपचार में गौण रखा जायेगा, शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए आत्मा को अशुभ कर्मों से विकारी बनाते परहेज नहीं होगा, स्थायी रूप से रोग से मुक्ति नहीं मिल सकती और तब तक तात्कालिक राहत के नाम पर चाहे जितने भी डॉक्टर तैयार हो जावें एवं अस्पतालों को प्रारम्भ कर दिये जावें, रोग एवं रोगियों की संख्या दिनोदिन बढ़ती ही जावेगी। यही वर्तमान में घटित हो रहा है। जो दवाईयाँ भूतकाल में अति प्रभावी समझी जा रही थीं आज निरर्थक, हानिकारक सिद्ध हो चुकी हैं। उनका निषेध हो रहा है एवं यही स्थिति उन दवाइयों की भी होने वाली है, जो आज प्रभावशाली बतलाई जा रही हैं। जैसे-जैसे उनके दुष्प्रभावों की जनसाधारण को जानकारी होगी। इसी कारण पश्चिम के कुछ चिकित्सक वर्तमान चिकित्सा व्यवस्था का विरोध कर रहे हैं। वे चिकित्सा के क्षेत्र में हो रहे तथाकथित विकास की भर्त्सना कर रहे हैं। अमेरिका के डॉ.पेव एरोला ने अपनी पुस्तक “हाउ टू गेट वैल’ में यहाँ तक लिखा है कि- “जब भविष्य में चिकित्सा का इतिहास लिखा जावेगा, वर्तमान शताब्दी उपचार पद्धतियों के संदर्भ में अन्धकार युग के रूप में मानी जावेगी।”

पशु भले ही बेजुबान हो-बेजान नहीं हैं:-

किसी भी जीव को स्वस्थ रखने में दिया गया सहयोग उत्कृष्ट सेवा होती है। संवेदना जागे बिना सच्ची सेवा नहीं हो सकती। आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मूक, बेबस, असहाय जीवों पर विभिन्न प्रकार के प्राणघातक प्रयोग किए जाते हैं। लकड़ी में आग होती है। क्या उसको देखा जा सकता है? ठीक उसी प्रकार जानवरों

के विच्छेदन से शरीर के बनावट की जानकारी तो हो सकती है, परन्तु चेतना की उपेक्षा करने वाला ज्ञान कैसे पूर्ण, वास्तविक और सच्चा हो सकता है ?

दवाइयों के निर्माण हेतु जीवों के अवयवों का बिना किसी परहेज उपयोग होता है। औषधियों के परीक्षण हेतु जीवों को यातनाएँ दी जाती हैं। उनकी मान्यतानुसार मनुष्य के लिए सभी अपराध क्षमा होते हैं। क्या आपने कभी सोचा आपके दुःख, दर्द, रोग अथवा पीड़ा का क्या कारण है ? यह तो आपके ही किए की प्रतिक्रिया है। “ क्रिया की प्रतिक्रिया ” तो इस सृष्टि का सनातन सिद्धान्त है। हमने अतीत जीवन में या जन्मों में किसी को मारा है, पीटा है, सताया है, रूलाया है, प्रताड़ित किया है, उसी की सजा के रूप में रोग आते हैं। स्पष्ट है रोग का कारण हमारी क्रूरता, कठोरता, कामुकता से जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क में अविवेक एवं प्राणिमात्र के प्रति अशुभ चिन्तन सबसे बड़ा ब्रेन हेमरेज है तथा हृदय में दया, करुणा नहीं होना सबसे बड़ी हार्ट टूबल है। अपराध करने, करवाने और करने में सहयोग देने वाले प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में अपराधी होते हैं। हिंसा को प्रोत्साहन देने वालों की संवेदना प्रायः प्राणि मात्र के प्रति विकसित नहीं होती। इसी कारण आधुनिक चिकित्सक अपेक्षाकृत कम संवेदनशील होते हैं। रोग का सही निदान न जानने के बावजूद अपनी गलती न स्वीकार कर येन-केन-प्रकारेण रोगों को दबा वाहवाही लूट न केवल अपने अहं का पोषण करते हैं, अपितु रोगी को प्रयोगशाला बना अपना स्वार्थ साधते हैं। अतः दुःख से बचने वालों को अन्य प्राणियों को दुःखी बनाने में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोगी नहीं बनना चाहिए। सेवा कर्म निर्जरा का सशक्त माध्यम है और हिंसा कर्म बन्धन का प्रमुख कारण। अतः सेवा के साथ साधन और सामग्री की पवित्रता आवश्यक होती है, उसके अभाव में की गई सेवा घाटे का सौदा है।

अहिंसक साधकों का उपचार के समय दायित्व:-

आश्चर्य तो इस बात का है कि अधिकांश साधक जो जीवन का मोह छोड़ साधना पथ के पथिक बन कठिन से कठिन परिषह सहन करने का संकल्प लेने वाले अज्ञान अथवा अविवेक के कारण साधारण से रोगों से विचलित हो जाते हैं। अपनी सहनशक्ति, धैर्य खो जीवन के मोह का परिचय देने लगते हैं। दवाओं की गवेषणा तक नहीं करते। मानव सेवा के नाम पर हिंसा पर आधारित चिकित्सालयों के निर्माण की प्रेरणा देते अथवा अनुमोदना करते संकोच नहीं करते ? हम बूचड़खानों अथवा जीव हिंसा का तो विरोध करें परन्तु उनसे बने उत्पादकों का स्वयं उपयोग करें, दूसरों से करवाएँ तथा उपयोग में लेने वालों को प्रोत्साहन देकर अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनुमोदना कर सहयोग देना कहाँ तक उचित है ? जिस पर अहिंसा का पूर्णतया पालन करने वालों को तो विशेष चिन्तन करना चाहिए। अहिंसक विकल्पों को प्राथमिकता देने की मानसिकता बनानी चाहिए।

अच्छी चिकित्सा कौनसी ?

स्वावलम्बी या परावलम्बी। सहज अथवा दुर्लभ। सरल अथवा कठिन, सस्ती या महंगी। प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक या नित्य बदलते मापदण्डों वाली अप्राकृतिक। अहिंसक अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा, निर्दयता, क्रूरता को बढ़ावा देने वाली। दुष्प्रभावों से रहित अथवा दुष्प्रभावों वाली। शरीर की प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ाने वाली या कम करने वाली। रोग का स्थायी उपचार करने वाली अथवा राहत पहुँचाने वाली। सारे शरीर को एक इकाई मानकर उपचार करने वाली अथवा शरीर का टुकड़ों-टुकड़ों के सिद्धान्त पर उपचार करने वाली। उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर हम स्वयं निर्णय करें कि कौनसी चिकित्सा मौलिक है और कौनसी वैकल्पिक ? मौलिकता का मापदण्ड भ्रामक विज्ञापन अथवा संख्याबल नहीं होता। करोड़ों व्यक्तियों के कहने से दो और दो पाँच नहीं हो जाते। दो और दो तो चार ही होते हैं। अतः स्वावलम्बी/अहिंसक चिकित्सा

पद्धतियाँ मौलिक चिकित्सा पद्धतियाँ हैं, वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियाँ नहीं हैं। मौलिक चिकित्सा पद्धति ही स्वावलम्बी/ अहिंसक/ प्रभावशाली चिकित्सा पद्धति हो सकती है।

सम्यक् दर्शन और स्वास्थ्य

मानव शरीर दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ मशीनरी:-

मानव शरीर दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ मशीनरी है। अमूल्य अंगों, उपांगों, इन्द्रियों, मन, मस्तिष्क और विभिन्न अवयवों द्वारा निर्मित मानव जीवन का संचालन और नियंत्रण कौन करता है? यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए शोध का विषय है। स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विज्ञान के विकास एवं लम्बे-चौड़े दावों के बावजूद शरीर के लिए आवश्यक रक्त, वीर्य, मज्जा, अस्थि जैसे अवयवों का उत्पादन तथा अन्य अंगों, इन्द्रियों का निर्माण संभव नहीं हो सका। मानव शरीर में प्रायः संसार में उपलब्ध सभी यंत्रों से मिलती-जुलती प्रक्रियाएँ होती हैं। मानव मस्तिष्क जैसा सुपर कम्प्यूटर, आँखों जैसा कैमरा, हृदय जैसा अनवरत चलने वाला पम्प, कान जैसी श्रवण व्यवस्था, आमाशय जैसा रासायनिक कारखाना आदि एक साथ मिलना बहुत दुर्लभ है। उससे भी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि सारे अंग, उपांग, मन और इन्द्रियों के बीच आपसी तालमेल। यदि कोई तीक्ष्ण, पिन, सुई अथवा काँच आदि शरीर के किसी भाग में चुभ जाए तो सारे शरीर में कंपकंपी हो जाती है। आँखों से आँसू और मुँह से चीख निकलने लगती है। शरीर की सारी इन्द्रियाँ एवं मन क्षण भर के लिए अपना कार्य रोक शरीर के उस स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं। उस समय न तो मधुर संगीत अच्छा लगता है और न ही मन-भावन दृश्य। न हंसी मजाक में मजा आता है और न खाना-पीना भी अच्छा लगता है। मन जो दुनियाँ भर में भटकता रहता है। उस स्थान पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देता है। हमारा सारा प्रयास सबसे पहले उस चुभन को दूर करने में लग जाता है। जिस शरीर में इतना आपसी सहयोग, समन्वय, समर्पण, अनुशासन और तालमेल हो अर्थात् शरीर के किसी एक भाग में दर्द, पीड़ा और कष्ट होने की स्थिति में सारा शरीर प्रभावित हो तो क्या ऐसे स्वचालित, स्वनियन्त्रित, स्वानुशासित शरीर में असाध्य एवं संक्रामक रोग पैदा हो सकते हैं? चिन्तन का प्रश्न है। हम एक साधारण मशीन बनाते हैं। उसको भी खराब होने से बचाने के लिए उसमें आवश्यक सुरक्षात्मक प्रबंध करते हैं। तब विश्व के सर्वश्रेष्ठ मानव शरीर रूपी यंत्र में रोग से बचाव हेतु आवश्यक सुरक्षा व्यवस्था न हो कैसे संभव है?

शरीर में स्वयं स्वस्थ होने की क्षमता होती है :-

दुनियाँ में असंख्य जाति के जीव हैं। चेतनाशील प्राणियों में मानव का प्रतिशत तो 0.1 प्रतिशत से भी कम है। 99.9 प्रतिशत जीव अपना सहज जीवन जीते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार की चिकित्सा पद्धति का न तो कोई ज्ञान होता है और न उन्हें अनुभवी चिकित्सकों का परामर्श अथवा सान्निध्य ही मिलता है। सम्पूर्ण मानव जाति तक भी आज की चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी अनादिकाल से जीवन अबाध गति से चल रहा है। कभी-कभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारणों से उपचार न करवा सकने के बावजूद कुछ समय पश्चात् रोग स्वतः ठीक हो जाता है। इसके विपरीत बहुत से रोगी अनुभवी चिकित्सकों से उपचार करवाने के बावजूद रोग-मुक्त नहीं होते। शरीर में हजारों रोग होते हैं, जिन्हें रोगी अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जितने रोगों को अभिव्यक्त कर सकता है, वे सभी यंत्रों और रासायनिक परीक्षणों की पकड़ में नहीं आ सकते। जो उनकी पकड़ में आ जाते हैं, उनको सभी डॉक्टर समझ नहीं सकते। सभी अपना अलग-अलग निष्कर्ष निकाल निदान करते हैं। अतः दवाओं द्वारा उपचार

आंशिक ही होता है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति उपचार करवाने के बावजूद पुनः स्वस्थ नहीं होते, जबकि चन्द रोगी बिना उपचार करवाए, प्राकृतिक नियमों को पालन कर स्वतः स्वस्थ हो जाते हैं। शरीर में रोग के अनुकूल दवा बनाने की क्षमता होती है और यदि उन क्षमताओं को बिना किसी बाह्य दवा के विकसित कर दिया जाए तो उपचार अधिक प्रभावशाली, स्थायी एवं भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों से रहित होता है। दवा और चिकित्सक तो मात्र मार्गदर्शक अथवा सहायक की भूमिका निभा सकते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए स्वयं की सजगता, भागीदारी, जीवन चर्या एवं गतिविधियों पर पूर्ण संयम, अनुशासन और नियंत्रण आवश्यक है। अच्छे से अच्छा अनुभवी चिकित्सक और दवा उसके बिना रोगी को ठीक नहीं रख सकते। पीड़ा में राहत मिलना मात्र रोग का सम्पूर्ण उपचार नहीं होता। अतः स्वास्थ्य के प्रति अन्तर की सजगता पूर्ण एवं स्थायी चिकित्सा की प्राथमिक आवश्यकता होती है।

रोग असजगता की चेतावनी :-

रोग प्रकृति द्वारा हमारी गलतियों को दर्शाता है। कारण दूर किए बिना लक्षणों को दबाने से राहत भले ही मिल जाए, पूर्ण उपचार कदापि नहीं हो सकता। अतः वास्तव में रोग तो एक उपहार है, क्योंकि इसका उद्देश्य परोपकारी व रक्षाकारी है। शरीर में अवांछित तत्वों का जमाव व उसके निष्कासन में निष्क्रियता ही रोगों का मूल कारण है।

आधुनिक चिकित्सक प्रायः रोग के मूल कारणों का पता न लगाकर रोग के लक्षणों का उपचार कर मात्र तुरन्त राहत दिलाने का प्रयास करते हैं। दवाओं द्वारा लक्षणों को दबा देते हैं। जिससे एक तरफ तो रोग के कारण बने रहते हैं, दूसरी तरफ दवाएँ प्रायः शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमताओं को क्षीण कर देती है, परिणामस्वरूप भविष्य में नित्य नवीन रोगों के पनपने की सम्भावना बनी रहती है। उनका प्रयास वृक्ष को सुरक्षित रखने के लिए, जड़ को सींचने के बजाय पत्तों को पानी पिलाने के समान अदूरदर्शिता पूर्ण होता है।

मानव जीवन अमूल्य:-

मानव जीवन अनमोल है अतः उसका दुरुपयोग न करें। वर्तमान की उपेक्षा भविष्य में परेशानी का कारण बन सकती है। वास्तव में हमारे अज्ञान, अविवेक, असंयमित, अनियंत्रित, अप्राकृतिक, जीवनचर्या के कारण जब शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता से अधिक शरीर में अनुपयोगी, विजातीय तत्व और विकार पैदा होते हैं तो शारीरिक क्रियाएँ पूर्ण क्षमता से नहीं हो पाती, जिससे धीरे-धीरे रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अनेक रोगों की उत्पत्ति के पश्चात् ही कोई रोग हमें परेशान करने की स्थिति में आता है। उसके लक्षण प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने लगते हैं। शरीर में अनेक रोग होते हुए भी किसी एक रोग की प्रमुखता हो सकती है। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियाँ, उसके आधार पर रोग का नामकरण, निदान और उपचार करती है। प्रायः रोग के अप्रत्यक्ष और सहयोगी कारणों की उपेक्षा के कारण उपचार आंशिक एवं अधूरा ही होता है। सही निदान के अभाव में उपचार हेतु किया गया प्रयास लकड़ी जलाकर रसोई बनाने के बजाय मात्र धुआँ करने के समान होता है। जो भविष्य में असाध्य रोगों के रूप में प्रकट होकर अधिक कष्ट, दुःख और परेशानी का कारण बन सकते हैं।

अच्छी चिकित्सा की आवश्यकता:-

वास्तव में जो चिकित्सा शरीर को स्वस्थ, शक्तिशाली, ताकतवर, रोगमुक्त बनाने के साथ-साथ मन को संयमित, नियन्त्रित, अनुशासित और आत्मा को निर्विकारी, पवित्र एवं शुद्ध बनाती हैं- वे ही चिकित्सा पद्धतियाँ स्थायी, प्रभावशाली एवं सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति होने का दावा कर सकती हैं।

चिकित्सा पद्धति की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता होती है, उसकी प्रभावशालीता, तुरन्त राहत पहुँचाने की क्षमता तथा दुष्प्रभावों से रहित स्थायी रोग मुक्ति। इन मापदण्डों को जो चिकित्सा पद्धतियाँ पूर्ण नहीं करतीं, वे चाहे जितने विज्ञापन एवं प्रचार-प्रसार द्वारा दावें करें, जनसाधारण को मान्य नहीं हो सकती।

उपचार हेतु स्वयं की सजगता आवश्यक:-

दुर्भाग्य तो इस बात का है कि स्वास्थ्य के संबंध में प्रायः व्यक्ति आत्म-विश्लेषण नहीं करता। गलती स्वयं करता है और दोष दूसरों को देता है। रोग का समाधान स्वयं के पास है और ढूँढ़ता है डॉक्टर और दवाइयों में। परिणामस्वरूप समस्याएँ सुलझने की बजाय उलझने लगती है। रोग से उत्पन्न दर्द, पीड़ा, कष्ट संवेदनाओं की जितनी अनुभूति स्वयं रोगी को होती है, उतनी सही स्थिति कोई भी यंत्र और रासायनिक परीक्षणों द्वारा मालूम नहीं की जा सकती। हमारे शरीर में स्वयं को स्वस्थ रखने की क्षमता होती है। दवा और डॉक्टर तो उपचार में मात्र सहयोगी की भूमिका निभाते हैं, उपचार तो शरीर के द्वारा ही होता है। अतः जो चिकित्सा जितनी स्वावलम्बी होगी, रोगी की उसमें उतनी ही अधिक सजगता, भागीदारी एवं सम्यक् पुरुषार्थ होने से प्रभावशाली होगी।

चिकित्सा हेतु हिंसा को प्रोत्साहन अनुचित:-

अधिकांश चिकित्सा पद्धतियों का उद्देश्य मानव के शरीर को स्वस्थ रखने तक ही सीमित होता है। अतः उपचार करते समय हिंसा को बुरा नहीं मानते। विशेष रूप से आधुनिक चिकित्सा पद्धति तो हिंसा से अछूती हो ही नहीं सकती। आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की जानकारी हेतु करोड़ों जानवरों का प्रतिवर्ष विच्छेदन किया जाता है। दवाइयों के निर्माण और उनके परीक्षण हेतु जीव जन्तुओं पर निर्दयता क्रूरता पूर्वक यातनाएँ दी जाती हैं। किसी को दुःख देकर सुख और शांति कैसे मिल सकती है? जो प्राण हम दे नहीं सकते, उनको अपने स्वार्थ हेतु लेने का हमें अधिकार किसने दे दिया? यह तो पशुता एवं अनैतिकता का लक्षण है। हिंसा, क्रूरता, निर्दयता अथवा अन्य विधि द्वारा किसी जीव को स्वयं कष्ट पहुँचाना अथवा ऐसा कृत्य करने वालों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग देना बुरा है, उसके चाहे जो कारण रहे हों। “जैसा करेगा वैसा फल मिलेगा”, यह कर्म का सनातन सिद्धान्त है। प्रकृति के न्याय में देर हो सकती है, परन्तु अंधेर नहीं। परन्तु अहिंसा का प्रचार-प्रसार करने एवं उपदेश देने वाले अनेक संतों का भी चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाली हिंसा की तरफ ध्यान नहीं जाता अपितु वे ऐसी चिकित्सा पर आधारित अस्पताल खुलवाने की प्रेरणा देने में संकोच नहीं करते। चिकित्सा में अहिंसा न केवल उपेक्षित एवं गौण होती जा रही है, अपितु हिंसा को आवश्यक बतलाने का प्रयास किया जा रहा है। भोजन में मांसाहार, अण्डों और मछलियों को पौष्टिक बतलाकर प्रोत्साहन देना पाश्विकता का द्योतक है। किसी प्राणी को दुःख दिए बिना हिंसा, क्रूरता, निर्दयता हो नहीं सकती। जो प्राण हम दे नहीं सकते, उसको लेने का हमें क्या अधिकार? दुःख देने से दुःख ही मिलेगा। जो हम नहीं बना सकते, उसको स्वार्थवश नष्ट करना बुद्धिमत्ता नहीं। अतः चिकित्सा के नाम पर प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हिंसा करना, कराना और करने वालों को सहयोग देना अपराध है। जिसका परिणाम भविष्य में उन्हें भोगना पड़ेगा तथा ऐसी दवाओं के माध्यम से शरीर में जाने वाली उन बेजुबान प्राणियों की बद-दुवाएँ शरीर को दुष्प्रभावों से ग्रसित करें तो आश्चर्य नहीं। अतः चिकित्सा की प्रथम प्राथमिकता होती है- अहिंसक उपचार। जिसके लिए हिंसा और अहिंसा के भेद को समझ अनावश्यक हिंसा से यथासम्भव बचना आवश्यक है। चिकित्सा पद्धतियाँ जितनी अधिक अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं उतनी ही वे शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा के विकारों को भी शीघ्र दूर करने में सक्षम होने के कारण स्थायी एवं अत्यधिक प्रभावशाली होती है।

परन्तु आज चिकित्सा में अहिंसा पूर्णतया गौण होती जा रही है। विज्ञापन और भोगवादी मायावी युग में स्वार्थी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप तथा जनसाधारण की असजगता, उदासीनता एवं सम्यक् चिन्तन के अभाव के कारण आज चारों तरफ से मानव पर अज्ञानवश वैचारिक आक्रमण, अन्याय, अत्याचार, विश्वासघात जैसी घटनाएँ हो रही हैं। चिकित्सा का पावन क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं है। चिकित्सा के नाम पर आज हिंसा को प्रोत्साहन, अकरणीय, अनैतिक आचरण को मान्यता, अभक्ष्य अथवा अखाद्य पदार्थों का सेवन उपयोगी, आवश्यक बतलाने का बेधड़क खुल्लम-खुल्ला प्रचार हो रहा है।

क्या चिकित्सा हेतु क्रूरता उचित है ?

दुनियाँ में कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। भले ही उसे न चाहते हुए भी मरना क्यों न पड़े। यह सनातन सिद्धान्त है, परन्तु आज का स्वार्थी मानव अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य चेतनाशील प्राणियों के साथ अमानवीय क्रूरता, निर्दयता, हिंसा का व्यवहार करते तनिक भी संकोच नहीं करता। “जीयो और जीने दो” पर आधारित जीवनचर्या ही मानवता की प्रतीक है। अपने स्वार्थ के लिए अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाना पाश्विकता का लक्षण है। उन मूक, बेजुबान, असहाय जीवों की बददुआएँ, हृदय से निकली चित्कारे, उनको पीड़ित करने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वालों को कभी शान्त, सुखी एवं स्वस्थ नहीं रहने देगी। भले ही पूर्व पुण्य के प्रभाव से स्वार्थी मानव को उसका तत्काल दुष्फल न भी मिले। इसीलिए सभी धर्मों ने “अहिंसा को परम धर्म” माना तथा सभी प्रकार के दानों में “जीवों को अभय दान” और सेवा में “प्राणिमात्र की रक्षा” को सर्वश्रेष्ठ सेवा माना है।

आज अज्ञान एवं स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण सम्यक् चिन्तन के अभाव में, चिकित्सा के क्षेत्र में हिंसा को खुलेआम प्रोत्साहन मिल रहा है। पाठशालाओं में जीव विज्ञान की शिक्षा के नाम पर टी.वी., विडियो, कम्प्यूटर और मॉडलों जैसी वैकल्पिक व्यवस्थाओं का अविष्कार हो जाने के बावजूद विद्यार्थियों में दया, करुणा, संवेदना के स्थान पर क्रूरता, हिंसा, निर्दयता के संस्कार दिए जा रहे हैं। दवाओं के निर्माण और परीक्षण हेतु मूक, बेबस, असहाय जानवरों पर बर्बरतापूर्वक यातनाएँ देने एवं अत्याचार करते तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है ? क्या हिंसा द्वारा निर्मित और क्रूरता द्वारा परीक्षण की गई दवाओं द्वारा उपचार करवाने वालों को अशुभ कर्मों का बंध नहीं होगा ? प्रकृति का दण्ड देने का विधान पूर्ण न्याय पर आधारित है। वहाँ देर भले ही हो सकती है, अंधेर नहीं हो सकती।

यदि आपके बच्चे को कोई मार डाले, उसको प्रताड़ित करे, बिना अपराध आपका मालिक आपको दण्ड दे तो क्या आप ऐसा कृत्य करने वालों पर प्रसन्न होंगे ? क्या उनको आशीर्वाद अथवा शुभकामनाएँ देंगे ? आपके मन को दुःख अथवा कष्ट पहुँचाने वाले के प्रति घृणा, द्वेष, बदले या प्रतिकार की भावना तो उत्पन्न नहीं होगी ? ठीक उसी प्रकार प्राणिमात्र प्रकृति पर आश्रित होते हैं तथा जिन जानवरों को शिक्षा के नाम पर विच्छेदित किया जाता है, दवाइयों के निर्माण हेतु मारा जाता है, दवाओं के परीक्षण हेतु जिन्हें निर्दयता व क्रूरता से प्रताड़ित किया जाता है तो उन बेजुबान, बेकसूर मूक प्राणियों का करुण क्रन्दन, हृदय से निकली चीत्कारों और बददुआएँ ऐसे स्वार्थी मानवों को क्षमा नहीं करेगी जो प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से उन पर क्रूरता करते हैं, करवाते हैं तथा ऐसी दवाइयों का उत्पादन एवं उपयोग करते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं होना चाहिए। जब पूज्य पुरुषों का आशीर्वाद हमें शान्ति पहुँचा सकता है तो दुःखी प्राणी की आहें अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाएँगी, चिन्तन का प्रश्न है ? अतः शान्ति, प्रसन्नता, सुख एवं स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को दुःख से बचने के लिए प्राणियों को दुःखी करने में सहयोग नहीं करना चाहिए।

चिकित्सा हेतु जनसाधारण की मानसिकता :-

उपर्युक्त सभी कारणों से आज जनसाधारण एवं स्वास्थ्य मंत्रालय आधुनिक चिकित्सा के नाम से प्रचलित अंग्रेजी एलोपैथिक चिकित्सा को ही चमत्कारिक, प्रभावशाली और वैज्ञानिक मानता है। अन्य स्वावलंबी चिकित्सा पद्धतियों की वैज्ञानिकता पर अधिकांश व्यक्ति सन्देहास्पद दृष्टिकोण रखते हैं। जब तक कोई तथ्य आज के तथाकथित भौतिक विज्ञान द्वारा मान्य अथवा प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक प्रायः जनसाधारण ऐसी पद्धतियों के बारे में जानने, समझने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने में संकोच करता है। भले ही वे पद्धतियाँ अनुभूत सत्य पर ही आधारित क्यों न हों ?

परिणामस्वरूप अधिकांश रोगी जो उपचार भले ही स्वावलंबी चिकित्सा से करवाते हों, परन्तु निदान तो आधुनिक चिकित्सकों के परामर्श एवं निर्देशानुसार करवाना आवश्यक समझते हैं। रोग में राहत मिलने के बाद तथा रोग के लक्षणों के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी जब तक एलोपैथिक डॉक्टर रोग की अनुपस्थिति की पुष्टि नहीं करते, तब तक उनमें उपचार की विश्वसनीयता पर सन्देह बना रहता है। श्रद्धा और समर्पण के अभाव में उपचार की प्रभावशालीता तो वैसे ही कम हो जाती है। ऐसे रोगी अपनी मानसिकता के कारण स्वावलंबी चिकित्सा का पूर्ण लाभ नहीं ले पाते। स्वावलंबी चिकित्सा के लम्बे-चौड़े दावे करने वाले बहुत से चिकित्सक, जिन्हें अपनी चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों की जानकारी नहीं होती अथवा पूर्ण अनुभव नहीं होता, वे चिकित्सक भी आत्मविश्वास एवं स्वावलंबी चिकित्साओं की प्रभावशालीता पर पूर्ण विश्वास न होने से स्वयं के रोगग्रस्त होने की स्थिति में अपनी चिकित्सा पद्धति से निदान अथवा उपचार करने के बजाय तात्कालिक राहत हेतु एलोपैथिक उपचार लेना पसन्द करते हैं, तो सारे दावे जनसाधारण को खोखले लगने लगते हैं। परिणामस्वरूप जनसाधारण स्वावलंबी चिकित्सा के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता।

स्वास्थ्य विज्ञान की शोध के आधार में एकरूपता होनी चाहिए। अर्थात् जिन रोगियों अथवा प्राणियों पर दवाओं अथवा उपचार के जो प्रयोग किए जाते हैं, उनका खान-पान, रहन-सहन, स्वभाव, मानसिकता, आचार-विचार, सोच, चिन्तन-मनन की प्रक्रिया, पारिवारिक समस्याएँ तथा शरीर में अप्रत्यक्ष एवं सहयोगी रोगों की एकरूपता भी आवश्यक होती है। क्योंकि ये ही कारण रोग से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ सभी रोगियों में एक सी होना कभी भी सम्भव नहीं होती। अतः ऐसे आधुनिक निदान एवं उपचार के परिणाम कैसे वैज्ञानिक और सत्य पर आधारित समझे जा सकते हैं ? चिन्तन का प्रश्न है।

विज्ञापन और शीघ्रता के इस युग में जिस मानसिकता में हम जी रहे हैं, जो चिकित्सा न सहज है, न सरल है, न सस्ती है, न स्वावलम्बी है, न अहिंसक है, न पूर्ण है, न दुष्प्रभावों से रहित है, न स्थायी है, फिर भी आधुनिक चिकित्सा को विकसित, वैज्ञानिक, प्रभावशाली मानना कितनी बुद्धिमत्ता है ? स्वास्थ्य प्रेमियों के लिए चिन्तन का प्रश्न है ?

अहिंसक चिकित्सा पद्धतियाँ क्यों अधिक प्रभावशाली ?

अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ सहज, सरल, सस्ती, स्थायी, दुष्प्रभावों से रहित, शरीर की प्रतीकारात्मक क्षमता को बढ़ाने वाली होती हैं, जो व्यक्ति का स्वविवेक जागृत कर, स्वयं की क्षमताओं के सदुपयोग की प्रेरणा देती हैं। वे हिंसा पर नहीं अहिंसा पर, विषमता पर नहीं समता पर, साधनों पर नहीं साधना पर, दूसरों पर नहीं स्वयं पर आधारित होती हैं। जो शरीर के साथ-साथ मन एवं आत्मा के विकारों को दूर करने में सक्षम होती हैं। ये पद्धतियाँ प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण अधिक प्रभावशाली, वैज्ञानिक, मौलिक एवं

निर्दोष होती हैं। आवश्यकता है अहिंसक समाज द्वारा ऐसी चिकित्सा पद्धतियों के प्रशिक्षण, शोध एवं जीवन में अपनाकर लाभ उठाने की।

सेवा हेतु हिंसा को समर्थन अनुचित

सेवा क्या है ?

किसी भी जीव के कष्टों को दूर कर सुविधाएँ अथवा शान्ति पहुँचाने में सहयोग देकर उसके विकास में सहायक बनना सेवा कहलाता है। अपने चिन्तन, अनुभवों, समय, श्रम, साधनों तथा ज्ञान आदि का परहित में उपयोग करना सेवा के व्यापक रूप होते हैं। फिर वे कार्य चाहे भूखे की भूख मिटाने, प्यासे को पानी पिलाने, अशिक्षितों को पढ़ने में सहयोग देने, बेरोजगारों को रोजगार दिलाने, रोगियों का उपचार करने, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आयोजनों का संचालन करने अथवा विवादों के सुलझाने, धार्मिक प्रचार करने, जन कल्याणकारी गतिविधियाँ चलाने अथवा कुरीतियाँ मिटाने आदि के ही क्यों न हों ? सारे कार्य आज सेवा के क्षेत्र में समझे जाते हैं। किसी भी जीव के प्राणों की रक्षा करना, उसके सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र की अभिवृद्धि में सहयोग करना, कराना, करने वालों का अनुमोदन करना, निर्दोष रोगोपचार करना, सेवा के उत्कृष्ट रूप होते हैं। सेवा का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है, जिसको शब्दों में बांधना कठिन होता है।

सेवा भवसागर से पार लगाने का पुल है। सेवा सदाचार एवं स्वाध्याय का प्रायोगिक पक्ष है जो नर से नारायण बनने का सरल उपाय है। सेवा में “सर्वजीवहितायः सर्वजीवसुखायः” की भावना मुख्य होती है। सेवा एक साधना है जो पीड़ित को शांति पहुँचाती ही है, स्वयं को भी आत्म संतोष दिलाती है। निःस्वार्थ भाव से, समर्पण पूर्वक आत्मोत्थान में सहयोग देने वाली, कषायों को कम करने वाली सच्ची सेवा से निर्जरा होती है, मानवीय गुणों का विकास होता है, तनाव घटता है, मैत्री बढ़ती है, तथा व्यक्ति में संवेदनशीलता जागृत होती है, करुणा पनपती है। सेवक को जितने-जितने अंशों में इन उपलब्धियों की प्राप्ति होती है, उतनी-उतनी सेवा भी उत्कृष्ट होती है।

सेवा की प्राथमिकताएँ:-

सेवा में साधन (द्रव्य, वस्तुएँ आदि), साध्य (दुःखी, पीड़ित, अभावग्रस्त), सेवक (चिकित्सक, दानी, परोपकारी, सहयोगी) होते हैं। सेवा किसकी करें? कब करें? कैसे करें? क्यों करें? सेवा की प्राथमिकताएँ एवं मापदण्ड क्या हों? क्योंकि सेवा हेतु आवश्यक श्रम, समय एवं साधनों की प्रत्येक व्यक्ति के पास अलग-अलग सीमाएँ होती हैं। सीमित क्षमताओं का अधिकाधिक प्राथमिकताओं के आधार पर उपयोग कैसे हों, इस हेतु विवेकपूर्ण गहन चिन्तन अनिवार्य है। अपने अभिभावकों एवं गुरुजनों, जिन्होंने हमें जीवन जीने की कला सिखाई, योग्य बनाया, उनकी सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिए। घर में माता-पिता अथवा अन्य परिजन तो तड़फता हो, भाई भूखा मरता हो, हम पर आश्रित परिजन परेशानी में हों और हम उसकी उपेक्षा कर समाज सेवा करें, लाखों का दान कर वाहवाही लूटने में व्यस्त रहें तो हमारी बदनामी होती है। हमारा प्रथम प्रयास हमारे आसपास अथवा सम्पर्क में आने वालों की सेवा होनी चाहिये। उसके पश्चात् जो साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ कर स्व-पर कल्याण में रत हैं उनकी सेवा को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिये। जिनका जीवन सेवामय हो, जो कल्याणकारी प्रवृत्तियों में रचे पचे हों अथवा जो जीव अथवा प्राणी बेसहाय हों, उनकी सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिये। यदि हमारी क्षमताएँ अधिकार क्षेत्र व्यापक हों तो प्राणी मात्र की सेवा में उसका उपयोग करना चाहिये। जो सेवा भौतिक समस्याओं का समाधान करती है, पारिवारिक, सामाजिक, व्यापारिक, राजनैतिक आयोजनों हेतु की जाती है, जिस सेवा से स्वार्थ

और अहं पोषण होता है, उस सेवा से पापानुबंधी पुण्योपार्जन ही होता है। शुभ अघाति कर्मों का बंध होता है। परन्तु जिस सेवा से स्वयं या दूसरों के आत्मविकार दूर होते हैं, वहीं उत्कृष्ट सेवा होती है। पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है एवं घाति कर्मों का क्षय होता है।

सेवक की योग्यता:-

सेवा में सेवक के तन और मन का समर्पण, वाणी की मधुरता एवं विनय भाव आवश्यक होता है। पर-पीड़ा की अनुभूति और सद्भावना सेवा के प्राण होते हैं। विनय एवं वाणी का संयम सेवा को चमकाते हैं। कर्कष एवं व्यंग्यात्मक वाणी से सेवा विकृत हो जाती है। पीड़ित के प्रति आदर भाव, उसके स्वाभिमान की रक्षा, उज्ज्वल, सुखद एवं सुसंस्कारित जीवन की मंगल भावना एवं प्रेरणा तथा सेवक के विवेकपूर्ण आचरण सेवा के लक्ष्यों को शीघ्र प्राप्त करने में अत्यधिक सहायक होते हैं। रोग के समय व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, रोगी का धैर्य, कमजोर हो जाता है। अतः सेवक को सदैव शांत, प्रसन्न, सहज, सरल और विनम्र होना चाहिए। कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति, संयोग, सम्पर्क, कथन, सेवक को तनावग्रस्त न कर सके, तब ही सच्ची सेवा होती है। अपेक्षाएँ स्वार्थ का प्रतीक होती हैं। उनके लिए की जाने वाली सेवा, सेवा नहीं सौदा है। सेवा का व्यवसायीकरण है, जो कदापि उचित नहीं है। सेवा में तो देना ही प्रमुख होता है। यश प्राप्ति के लिये की गयी सेवा भी, सेवा का अवमूल्यन करती है।

मात्र अल्प समय के लिये किसी के कष्टों को मिटाने में सहयोग सेवा का लघु रूप होता है। सच्चे सेवक का प्रयास तो दुःख के मूल कारणों का सदैव दूर करने का होता है। यदि सेवक का आचरण इन मापदण्डों के विपरीत हों अर्थात् एक का कष्ट दूर करने के लिये जो साधन कार्य में लिए जाते हों, उसके निर्माण, परीक्षण आदि अन्य जीवों के प्रति निर्दयता, क्रूरता होती हो ऐसी सेवा को यथासंभव प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। सेवा के साथ स्वार्थ, मायावृत्ति अथवा दिखावा, अहंपोषण की भावना पुष्ट होती हों, वाणी का विवेक नहीं हों और पीड़ित के प्रति व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करता हों, बात-बात में एहसानों की अभिव्यक्ति झलकती हों, जिससे सामने वालों के स्वाभिमान को चोट पहुंचे तो ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ सेवा रूपी अमृत को जहर बनाने के तुल्य होती हैं।

प्रत्येक सेवा भावी व्यक्ति को यथासंभव ऐसी प्रवृत्तियों से बचना चाहिये। उदाहरण के लिए यदि आपके घर कोई मेहमान आये और आप उसका बहुत आदर सत्कार एवं सेवा करें, अच्छे से अच्छा भोजन खिलावें, उसकी सुख सुविधाओं का पूरा ध्यान रखें ताकि किसी भी प्रकार का कष्ट और परेशानी न हों, परन्तु घर से विदा होते समय मात्र इतना कह कर देखे, आज तक आपको जिन्दगी में कभी ऐसा आदर-सत्कार करने वाला अन्य दूसरा व्यक्ति मिला? क्या प्रतिक्रिया होगी ऐसे आदर सत्कार की? सेवा मात्र नारों का विषय नहीं, समर्पण एवं आचरण का विषय है। “सबकी सेवा सबको प्यार” का संदेश देने वालों को अपनी सेवाओं का मूल्यांकन इन मापदण्डों के आधार पर करना चाहिये।

स्वयंसेवी संगठनों में सेवा का स्वरूप:-

आजकल हजारों स्वयंसेवी संगठन एवं विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ सेवा के उद्देश्य से गठित होते हैं तथा उनके द्वारा किये गये सेवा कार्यों को बहुत अधिक प्रचारित किया जाता है। ऐसी अधिकांश संस्थाओं में सेवा के नाम पर आयोजित होने वाले कार्यक्रमों का उद्देश्य सेवा का विज्ञापन, प्रदर्शन, व्यक्तिगत अहंपोषण, अधिक हो गया है, इससे सस्ती लोकप्रियता प्राप्त कर स्वार्थ-सिद्धि होती रहती है। मानो वे स्वयं की सेवा कर स्वयंसेवी संस्थाओं के

नाम की सार्थकता प्रकट कर रहे हैं। उनके अधिवेशनों, शपथ समारोह, मनोरंजन कार्यक्रमों के आयोजनों के पीछे कौनसी सेवा की भावना है, जो जनसाधारण के लिये चिन्तन का विषय है ?

प्रभावशाली व्यक्ति और सेवा:-

सेवा की प्रेरणा में जब कोई प्रभावशाली राजनेता, उच्च पदाधिकारी अथवा लब्धिधारी संत आगे आ जाते हैं तो उनको खुश करने के लिये, उनसे अपने स्वार्थों की पूर्ति कराने के उद्देश्य से, उनकी प्रेरणा से लोग सेवा हेतु आगे आते समय, श्रम और साधनों को बांटते तनिक भी संकोच नहीं करते। वे सेवा के उस क्षेत्र की उपयोगिता, प्राथमिकता व महत्त्व के बारे में चिन्तन तक नहीं करते हैं। परन्तु ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों के पास यदि कोई साधारण व्यक्ति दुःख दर्द की फरियाद लेकर पहुँच जाता है, उस समय अनेकों प्रसंग ऐसे देखे गये हैं कि कभी-कभी सहयोग करना तो दूर, दुःखियों की व्यथा को भी शांति से सुनने का उनके पास समय नहीं होता। सेवा जैसे पावन क्षेत्र का उपयोग जब व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि कि लिये करने लगे तो ऐसी सेवा और सेवक दोनों बदनाम होते हैं। जब तक प्रभावशाली व्यक्तियों की प्रेरणा मिलती है, स्वार्थ सिद्धि होती है उन संस्थाओं में सेवा के कार्य तीव्र गति से चलते हैं, परन्तु जैसे ही उनका सम्पर्क समाप्त हुआ, सेवा के कार्यक्रमों में न केवल शिथिलता आ जाती है अपितु प्रायः कभी-कभी संस्थाएं बन्द भी हो जाती हैं।

जीवन-उत्थान: सेवा का उत्कृष्ट रूप:-

जो सेवा मानवीय गुणों का विकास करती है, व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों को विकसित कर आध्यात्मिक विकास में सहयोग कर नर से नारायण बनाती है वही उत्कृष्ट सेवा होती है। जिस व्यक्ति के कष्टों को दूर करने में सहयोग किया जाता है वह व्यक्ति सेवा करने वालों का ऋणी होता है। सेवक को आदर की दृष्टि से देखता है एवं उसके सुझावों, आदेशों, निर्देशों, प्रेरणाओं का यथासंभव पालन करने का प्रयास उसका कर्तव्य बनता है। अतः सेवा के साथ में पीड़ित के मानवीय गुणों के विकास का लक्ष्य होना चाहिये। उसको व्यसन मुक्ति, सात्विक खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, स्वाध्याय-चिन्तन का महत्त्व बतलाकर जीवन में उन्हें अपनाने का संकल्प दिलाना चाहिये। दुःख देने से दुःख मिलता है। इस रूप में जिसकी सेवा की जावे यदि वह व्यक्ति व्यसन सेवन, मदिरापान एवं मांसाहार का प्रयोग करता हो तो उसको त्याग करने हेतु समझना चाहिये, सेवा करने वाले का यह प्रथम संकल्प होना चाहिये। जिस प्रकार उपचार के साथ यदि कोई डॉक्टर परहेज पर जोर दें तो यह शर्त नहीं इसके पीछे रोगी को शीघ्र स्वस्थ बनाने का हित-निहित होता है। उसी प्रकार सेवा के साथ दुःख के मूल कारणों से दुःखी को छुटकारा दिलाना सेवा को प्रभावशाली बनाता है। यह सेवा के साथ भेदभाव नहीं, अपितु दुःख दूर करने की प्रथम आवश्यकता पर बल है। जैसे यदि रोगी डॉक्टर द्वारा बताये गये परहेज का पालन नहीं करें, उसकी उपेक्षा करें तो कैसे रोग मुक्त होगा? उसी प्रकार मांसाहार, दुर्व्यसनों को बुरा न मानने वाले व्यक्ति, सेवक की सेवाओं से वंचित रहें तो इसमें किसका दोष? यदि पीड़ित अपने आचरण में सुधार न करें तो मानवता के नाम पर दूसरों के दुःखों को प्रोत्साहन देने वालों की सेवा को प्राथमिकता कदापि उचित नहीं। भगवान महावीर से जब पूछा गया, व्यक्ति सोता हुआ अच्छा अथवा जागृत अच्छा? उन्होंने कहा जिनका जीवन स्वपर कल्याण में लगा हुआ है उनका जागृत रहना अच्छा है, परन्तु जो दूसरे को दुःखी बनाते हैं उनका सोते रहना ही अच्छा है। जीवन सुधार के उद्देश्य के बिना सेवा करने वालों को इसके गूढ़ रहस्य को समझना चाहिए। ऐसी सेवा से दुःखी का दुःख दूर नहीं होता है। मात्र सस्ती लोकप्रियता, वाहवाही तथा अहंपोषण होता है। सेवक का कार्य सेवक तैयार करने का होना चाहिए। जिससे भविष्य में वह जन-जन का हितैषी बन सकें। सेवा के साथ जीवन सुधार की शर्त सेवा के साथ सौदा

नहीं, अपितु सेवा को प्रभावशाली बनाती है, जैसे सोने की अंगूठी में हीरे का नगीना जड़ने से उसका मूल्य अनेक गुणा बढ़ जाता है।

इन मापदण्डों के अभाव में आज सैकड़ों सामाजिक एवं स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से की गयी सेवा अपेक्षित लाभकारी सिद्ध नहीं हो पा रही है। शिक्षा के क्षेत्र में डॉक्टर, इंजीनियर, चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट, प्रशासनिक अधिकारी आदि उच्चशिक्षा हेतु खूब सहयोग दिया जाता है, परन्तु उनके साथ सदाचरण को गौण रखने से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् सहायता प्राप्त करने वाले अनेकों विद्यार्थी स्वार्थी एवं अनैतिक बन अपने लाभ का ही ध्यान रखते हैं। उनमें सुसंस्कारों के अभाव में अनेक दुर्व्यसन पनप जाते हैं। कभी-कभी उनमें कुछ विद्यार्थी परिवार, समाज और राष्ट्र के निर्माण के स्थान पर विध्वंस में सहायक बन जाते हैं। इसे दूर करने हेतु सेवा के क्षेत्र में कार्यरत सभी संगठनों को पूर्वाग्रहों से अलग होकर सेवा के साथ जीवन-निर्माण हेतु आवश्यक नियमों व शर्तों का पालन करना आवश्यक होना चाहिये।

प्राणों की रक्षा करना सर्वोत्तम सेवा होती है:-

पहला सुख निरोगी काया। रोगी को रोगों से राहत दिलाना हमारा प्रथम कर्तव्य होता है। रोगों से राहत मिलने के पश्चात् ही उपदेश का प्रभाव पड़ता है। दुर्घटनाओं को देखकर कानून की जटिलताओं से सच्चे सेवक को नहीं घबराना चाहिये। मनोबल एवं आत्म-विश्वास के साथ दुर्घटनाग्रस्त प्राणी की रक्षा हेतु प्रयास करना चाहिये। संवेदना जागे बिना सच्ची सेवा नहीं हो सकती। रोगी को रोग मिटाने हेतु इस बात का विवेक रखना चाहिये कि जो दवा और सामग्री काम में लायी जाये वह यथा संभव पवित्र हों। उसके पीछे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जीवों की हिंसा, प्रताड़ना अथवा क्रूरता न हों। चिकित्सा में हिंसा अपवाद रूप में, जहां कोई अन्य विकल्प न हों, मजबूरी में ही मान्य हो सकती है, परन्तु उसका भी प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धिकरण अनिवार्य होता है। तुलसीदास जी ने स्पष्ट रूप से कहा है:-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

तुलसी दया न छोड़िये, जब तक घट में प्राण ॥

अहिंसा परमो धर्म: हमारी जीवन शैली हैं। जैसा करेंगे वैसा फल मिलेगा, यह सनातन सत्य है। सेवा एक धर्म है और जहां दया नहीं, करुणा नहीं संवेदना नहीं वहां धर्म कैसा? हिंसा-अहिंसा के विवेक से शून्य सेवा तो व्यक्ति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अहंपोषण को ही प्रोत्साहन देगी, जो पाप का ही रूप होती है। अतः ऐसी सेवा नर को नारायण बनाने के स्थान पर अधोगति में भी ले जा सकती है। सेवा की प्रथम शर्त सेवा में अहिंसा का पालन है। उदाहरण के लिये आपके पास कोई भूखा व्यक्ति भूख मिटाने हेतु याचना करे तो मानवता का दृष्टिकोण रखने वाला यथासंभव उस व्यक्ति की भूख मिटाने का प्रयास करेगा। परन्तु भूखा व्यक्ति अपनी क्षुधा मिटाने के लिये मदिरा या मांसाहार का आग्रह करें तो उस समय एक अहिंसक का क्या कर्तव्य होगा? हिंसा और सेवा में वह किसको प्राथमिकता देगा? विवेकशील व्यक्ति सेवा के नाम पर भूख मिटाने के लिये कभी भी मांसाहार कराना उचित नहीं समझेंगा। मांसाहार जीव हत्या से प्राप्त होता है, इस बात की उसको जानकारी है। एक का दुःख दूर करने के लिये पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या कदापि न्याय संगत नहीं। सेवा के पालन में समुचित सिद्धान्तों का पालन करना बुद्धिमत्ता है।

सच्ची रोगोपचार सेवा कौनसी ?

रोग निवारण में मानव-सेवा के नाम पर जो भी साधन या सामग्री कार्य में ली जावे उसके निर्माण एवं परीक्षण में जीव-जन्तुओं पर अनावश्यक क्रूरता न की जावे। मानव की रोग मुक्ति के लिए हिंसा और क्रूरता को प्रोत्साहन देना कदापि उचित नहीं। फिर हिंसा किसी भी रूप में क्यों न हों, किसी के लिये भी क्यों न हों। धर्म के नाम पर हों अथवा रोगी उपचार सेवा के नाम पर, हमारा प्रथम प्रयास उससे यथा संभव बचने का होना चाहिये।

चिकित्सा के क्षेत्र में बढ़ती हुई हिंसा के कारण सेवा का यह पावन क्षेत्र आज दूषित हो चुका है। हिंसा पर आधारित साधन एवं सामग्री का सेवा हेतु उपयोग सेवा की मूल भावना के विपरीत होता है। अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ ही सेवा की मूल भावना के अनुरूप हो सकती हैं। सेवा भावी संगठनों को अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के प्रचार-प्रसार प्रशिक्षण एवं शोध को प्रोत्साहन देना चाहिये। परन्तु आज जो सेवा के नाम पर अज्ञानतावश पशु हिंसा और क्रूरता से निर्मित साधन-सामग्री का बेधड़क वितरण हो रहा है। नये-नये अस्पतालों के निर्माण की प्रेरणा दी जा रही है। उनके संचालन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग देकर हिंसा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, यह अहिंसा में विश्वास रखने वालों के लिए उचित नहीं है, जिस पर पूर्वाग्रह छोड़कर शान्तचित्त से, अनेकान्त दृष्टिकोण से चिन्तन करना अहिंसक समाज के लिए आवश्यक है। चिकित्सा का आधार हो आधि, व्याधि एवं उपाधि का संतुलन एवं समभाव की प्राप्ति, राग एवं द्वेष से विरति। रोग निवारण हेतु जो चिकित्सा पद्धतियाँ इन मापदण्डों पर जितनी-जितनी खरी उतरती हैं, उतनी-उतनी ही वे उत्कृष्ट सेवा का रूप होती हैं। वास्तव में सेवा के साथ करणीय-अकरणीय, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा का विवेक आवश्यक होता है।

पशु क्रूरता कानून कितना न्याय संगत?

पशु क्रूरता निवारण कानून की विसंगतियाँ-

सरकार पशुओं के कल्याण हेतु जनचेतना जागृत करने के लिए प्रतिवर्ष 14 जनवरी से 29 जनवरी तक राष्ट्रीय स्तर पर पशु कल्याण पखवाड़ा मनाती है। पशु क्रूरता निवारण समितियाँ इन दिनों में बच्चों की रेलियों, भाषण प्रतियोगिताओं, निबंध प्रतियोगिताओं का आयोजन कर अपना कर्तव्य पूर्ण समझ रही हैं। पशुओं पर अत्याचार रोकने हेतु सरकार द्वारा पशु कल्याण विभाग (Animal Welfare Board) बना हुआ है। अहिंसा प्रेमियों द्वारा पशुओं के संरक्षण हेतु सैंकड़ों स्वयंसेवी संस्थायें संलग्न हैं। फिर भी दिन-प्रतिदिन भारत में पशुक्रूरता तीव्र गति से बढ़ रही है। भारत में पशुक्रूरता निवारण कानून बना हुआ है। जिसके अन्तर्गत पशुओं पर हो रहे अत्याचारों, क्रूरता, बर्बरता, निर्दयता करने वालों पर दण्ड का प्रावधान है। परन्तु इन मूक, बेबस, बेसहारा प्राणियों को उन कानूनों का लाभ नहीं मिल रहा है। कानून के अन्तर्गत पशुओं को प्रताड़ित करना, उनके साथ क्रूरता करना, उन पर अधिक बोझ लादना, ट्रकों में ठूस-ठूसकर भरना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते समय उनको कष्ट पहुँचाना कानूनी अपराध है। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उनको जान से मार देने पर कोई दण्ड का प्रावधान नहीं है। बूचड़खाने पशु क्रूरता कानूनों का खुला उल्लंघन हैं। राष्ट्र भर में लगने वाले पशु मेलों से बूचड़खानों तक पशुओं को पहुँचाने के पूर्व अधिकारियों से वध करने योग्य पशु का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने एवं पशुओं के वध करने की जो प्रक्रिया है, वह सब कानून की धज्जियाँ उड़ा रही है। मानों खेत ही बाड़ को खा रहा है। कानून बनाने एवं उसकी रक्षा हेतु जिम्मेदार सरकार खुले आम पशुक्रूरता कानून का गला घोट रही है।

अगर कोई मनुष्य को खा जाता है उसको नरभक्षी कहा जाता है। ऐसे जानवरों को लोग जिन्दा नहीं रहने देते। परन्तु मांसाहारी जीवन पर्यन्त कितने प्राणियों की हत्या कर खाता है, फिर भी ऐसे मानव को सभ्य, बुद्धिमान मनुष्य मानना कदापि न्याय संगत नहीं है। प्राणियों को जीवित रहने के अधिकार से वंचित करना न्याय, नीति एवं कर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों का स्पष्ट अतिक्रमण करना है।

पशु-पालन विभाग पशु-मारण की योजना बना रहे हैं। पश्चिम का अन्धानुकरण कर आज खरगोश, मछली, अण्डों की खेती जैसी भ्रामक शब्दावली बनाकर जानवरों के प्रति करुणा, दया व प्रेम की भावना मिटाई जा रही है। आश्चर्य तो इस बात का है कि ये सारे कार्य कानून की आड़ में किये जा रहे हैं।

प्रकृति की उपेक्षा करने वाला कानून असंगत-

संविधान में भारत के नागरिकों को मनपसन्द व्यवसाय करने का प्रावधान है। 23 अप्रैल 1956 का दिन भारत के पशु जगत् के लिये काला दिन था। इस दिन भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने मानव की करुणा, दया, संवेदना, अहिंसा, प्राणीमात्र के प्रति सभी महापुरुषों द्वारा मैत्री एवं प्रेम के उपदेश तथा जीओ और जीने दो के संदेश को अनदेखा कर पशुवध को भी अपने मनपसन्द व्यापार के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया। परन्तु पशु-हत्या व्यापार और व्यवसाय नहीं हो सकता। यह मानवता पर कलंक है। पाश्विकता का द्योतक है। यदि पशु-हत्या मनपसन्द व्यापार है तो फिर भविष्य में विदेशों से अवैध रूप से विदेशी सामान लाना, जुआ-खोरी, वेश्यावृत्ति, चोरी, डकैती, आतंक जैसे अमानवीय कार्यों को भी मनपसन्द व्यापार की श्रेणी में बतलाया जावे तो भी आश्चर्य नहीं? संविधान की ऐसी विसंगतियों को सजग जनप्रतिनिधियों द्वारा दूर करवाना चाहिये और हत्या, क्रूरता, बर्बरता, निर्दयता, अत्याचार जैसे शब्दों की सरकार को स्पष्ट व्याख्या करनी चाहिए। जो प्राण हम दे नहीं सकते उन्हें लेने का किसी को अधिकार नहीं। सरकार संविधान की आड़ में मायाचार, अनैतिकता, हिंसा को प्रोत्साहन न दे। पद एवं पैसों के लिये असहाय मूक पशुओं की निर्मम हत्या को बढ़ावा अज्ञानता का प्रतीक है। जब किसी का आर्शीवाद हमारा मंगल कर सकता है तो मृत जानवरों की बद्दुआएँ राष्ट्र के अमन चैन का सत्यानाश करने का हेतु बनें तो आश्चर्य नहीं। जानवर बेजुबान भले ही हों- बेजान नहीं हैं। वर्तमान में राष्ट्र की स्थिति का वर्णन करते हुए किसी चिंतक ने ठीक ही कहा है:-

खूनियों के पंजे में उलझ गया देश, गोलियों की गर्मी से झुलस गया देश।

फिर भी मुझे जीतना है, वोट चाहिये, मुझको मेरा कर्तव्य नहीं, कुर्सी चाहिये ॥

मानव जीवन अमूल्य है। वस्तु जितनी मूल्यवान होती है, उसका उपयोग उसके अनुरूप करने वाला ही सच्चा ज्ञानी होता है। हमें चिन्तन करना होगा कि मानव जीवन के रूप में हम अपनी ऐसी अमूल्य क्षमताओं का अप्राथमिक, अनावश्यक कार्यों में दुरुपयोग और अपव्यय तो नहीं कर रहे हैं? जब तक अपनी क्षमताओं का सही उपयोग नहीं होगा, दुःख और रोग के कारणों को नहीं समझा जाएगा तब तक हमारा जीवन अमर्यादित, अनियन्त्रित, लक्ष्य-हीन, स्वच्छन्द, असंयमित होने से स्थायी स्वास्थ्य एवं समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता।

रोग की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा में कर्मों के विकार ही होते हैं। संचित कर्मों के अनुरूप व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि, परिवार, समाज, क्षेत्र, पद, प्रतिष्ठा, अच्छा स्वास्थ्य और भौतिक साधनों की उपलब्धि होती है। रोग की अभिव्यक्ति भी पहले भावों अथवा विचारों में एवं सुख-दुःख का संयोग अथवा वियोग प्राप्त होता है। तत्पश्चात् मन में, उसके बाद शरीर के अन्दर एवं अन्त में बाह्य लक्षणों के रूप में प्रकट होती है। व्यक्ति के हाथ में तो सम्यक् पुरुषार्थ करना ही होता है। परन्तु सभी पुरुषार्थ करने वालों को एक जैसा परिणाम क्यों नहीं मिलता? उसके पीछे पूर्व संचित कर्मों का ही प्रभाव होता है। अतः हमारी जीवन शैली यथासंभव अहिंसक होनी चाहिए।

जीवन क्या है?

जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था का नाम जीवन है। जीवन को समझने से पूर्व जन्म और मृत्यु के कारणों को समझना आवश्यक होता है। जिसके कारण हमारा जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। जन्म और मृत्यु क्यों? कब? कैसे और कहाँ होती है? उसका संचालन और नियन्त्रण कौन और कैसे करता है? सभी की जीवन शैली, प्रज्ञा, सोच, विवेक, भावना, संस्कार, प्राथमिकताएँ, उद्देश्य, आवश्यकताएँ आयुष्य और मृत्यु का कारण और ढंग एक-सा क्यों नहीं होता? मृत्यु के पश्चात् अच्छे से अच्छे चिकित्सक का प्रयास और जीवन दायिनी समझी जाने वाली दवाईयाँ क्यों प्रभावहीन हो जाती हैं? मृत्यु के पश्चात् शरीर के कलेवर को क्यों जलाया, दफनाया अथवा अन्य किसी विधि द्वारा समाप्त किया जाता है?

प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं से प्रश्न करना चाहिए कि- “मैं कौन हूँ?, मैं कहाँ से आया हूँ?, मुझे मानव जन्म क्यों और कैसे मिला? मानव जीवन में भी सभी को एक-जैसी परिस्थितियाँ और वातावरण क्यों नहीं मिलते? सभी की आयु एक जैसी क्यों नहीं होती? किसी की बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर का पूर्ण विकास होता है तो कुछ जन्म से ही अविकसित, असन्तुलित, विकलांग अथवा अस्वस्थ क्यों होते हैं? जन्म के साथ परिवार, समाज, धर्म और संस्कृति, परिस्थितियाँ, कार्यक्षेत्र तथा जीवन को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रसंगों का संयोग अथवा वियोग क्यों मिलता है?

अच्छे स्वास्थ्य हेतु निम्नतम आवश्यकताएँ

स्वस्थ जीवन जीने के लिए शरीर, मन और आत्मा, तीनों की स्वस्थता आवश्यक होती है। तीनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। तीनों के विकारों को दूर कर तथा सन्तुलित रख आपसी तालमेल द्वारा ही स्थायी स्वास्थ्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतः स्वास्थ्य की चर्चा करते समय जहाँ एक तरफ हमें यह समझना आवश्यक है कि शरीर, मन और आत्मा का सम्बन्ध क्या है? किसका कितना महत्त्व है? दूसरी तरफ जीवन की मूलभूत आवश्यक ऊर्जा स्रोतों का सम्यक् उपयोग करना होता है तथा दुरुपयोग अथवा अपव्यय रोकना पड़ता है।

स्वास्थ्य के लिए हमारे शरीर में समाधान हैं, प्रकृति में समाधान हैं, वातावरण में समाधान हैं, भोजन, पानी और हवा के सम्यक् उपयोग और विसर्जन में समाधान हैं। समाधान भरे पड़े हैं। परन्तु उस व्यक्ति के लिए कोई समाधान नहीं है, जिसमें अविवेक और अज्ञान भरा पड़ा है।